

भगवान शांतिनाथ



(भगवान महावीर २६सौवां जन्मकल्याणक वर्ष)

भगवान शान्तिनाथ

लेखक :

ब. हरिलाल जैन

अनुवादक :

मगनलाल जैन

सम्पादक :

अखिल बंसल

एमए. डि. पत्रकारिता

प्रकाशक :

समन्वय वाणी प्रकाशन

स्टेशन रोड़, दुर्गापुरा, जयपुर-302018

प्रथम दो संस्करण : 3000
(25 दिसम्बर, 96 से अद्यतन)

तृतीय संस्करण : 3000
(21 अक्टूबर, 2001)

योग : 6000

मूल्य : आठ रुपए

मुद्रण व्यवस्था :

प्रिन्टोमैटिक्स

दुर्गापुरा, जयपुर - 302018

फोन : 722274, 721819

प्रकाशकीय

समन्वय वाणी प्रकाशन, जयपुर द्वारा प्रकाशित 'भगवान शान्तिनाथ' का यह जीवन चरित्र प्रकाशित करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है।

जैनधर्म के सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ इतिहास पुरुष हैं। भगवान शान्तिनाथ का जीवन चरित्र जैनाचार्य जिनसेन ने 'महापुराण' नामक ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है। प्रस्तुत कृति के लेखक स्व. ब्र. हरिभाई हैं जिन्होंने प्रथमानुयोग का साहित्य लिखकर बालकों को धर्म के प्रति रुचि जागृत करने की दिशा में महत्वपूर्ण कार्य किया है। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु उनका योगदान चिरस्मरणीय रहेगा।

जैन समाज में बालोपयोगी साहित्य का प्रकाशन अभी नगण्य ही है। बच्चों में धार्मिक संस्कार दृढ़ हों, इस उद्देश्य को पूरा करने हेतु हमने बाल साहित्य को घर-घर पहुँचाने का बीड़ा उठाया है।

इस पुस्तक का प्रकाशन विशेष रूप से बच्चों में धार्मिक रुचि पैदा करने के उद्देश्य से किया गया है ताकि उनका यह सचित्र जीवन चरित्र पढ़कर बाल वर्ग को हमारी संस्कृति व इतिहास की विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सके।

प्रस्तुत कृति का सम्पादन कार्य समन्वय वाणी के यशस्वी सम्पादक श्री अखिल बंसल ने किया है। प्रसिद्ध चित्रकार श्री अनन्त कुशवाहा ने अपनी तूलिका के माध्यम से चित्रों द्वारा कृति को सुसज्जित कर इसके आकर्षण में चार चाँद लगा दिए हैं। इस सहयोग के लिए हम उनके हृदय से आभारी हैं।

आप सभी इस कृति के माध्यम से प्रथमानुयोग के पठन-पाठन में रुचि जागृत करें और आत्मकल्याण का मार्ग प्रशस्त कर भव का अभाव करें। इसी कामना के साथ -

- शैल बंसल

हमारे प्रकाशन

- | | | |
|-----|--|-------------|
| 1. | भगवान ऋषभदेव | 10=00 |
| 2. | भगवान चन्द्रप्रभ | 7=00 |
| 3. | भगवान शान्तिनाथ | 8=00 |
| 4. | भगवान मल्लिनाथ | 6=00 |
| 5. | भगवान नेमिनाथ | 8=00 |
| 6. | भगवान पार्श्वनाथ | 7=00 |
| 7. | भगवान बाहुबली | 5=00 |
| 8. | जिनेन्द्र पूजांजलि | (प्रेस में) |
| 9. | गौरव गाथा आचार्यश्री विद्यानन्दजी (चित्रकथा) | 25=00 |
| 10. | गोम्मटेश बाहुबली (चित्रकथा) | (प्रेस में) |
| 11. | कविवर वनारसीदास (चित्रकथा) | (प्रेस में) |
| 12. | कहान कथा : महान कथा (चित्रकथा) | (प्रेस में) |

हमारे यहाँ उपलब्ध अन्य प्रकाशन

- | | | |
|----|---------------------------------|-------|
| 1. | मंगल तीर्थयात्रा | 5=00 |
| 2. | अध्यात्म बारहखड़ी | 7=00 |
| 3. | चतुर चितारणी | 10=00 |
| 4. | क्षत्रचूड़ामणि परिशीलन | 3=00 |
| 5. | क्षत्रचूड़ामणि (जीवन्धर चरित्र) | 25=00 |

राष्ट्रीय एवं अहिंसक संस्कृति की

जीवन्त पाक्षिकी

समन्वय वाणी

ग्राहक बनें : सहयोग दें

• वार्षिक शुल्क : 50 रुपए • आजीवन शुल्क : 501 रुपए

भगवान शान्तिनाथ

बारहवाँ पूर्वभव

श्रीषेण राजा और अनिन्दिता रानी

जैनधर्म भारतवर्ष के प्राचीन धर्मों में से एक है। जैन धर्मानुसार जो धर्मतीर्थ का उपदेश देते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं ये तीर्थंकर चौबीस होते हैं। भगवान ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे तथा भगवान महावीर चौबीसवें तीर्थंकर थे।

यहाँ हम सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ की मंगलगाथा का वर्णन कर रहे हैं। हे भव्य जीवो ! अपने अन्तर में भगवन्त परमेष्ठी को विराजमान करके शान्तभाव पूर्वक भगवान शान्तिनाथ के पूर्व भवों का वर्णन सुनो !

भगवान शान्तिनाथ पूर्व के बारहवें भव में जम्बूद्वीप के रत्नसंचयपुर नगर में श्रीषेण नामक राजा थे। उनके सिंहनन्दिता तथा अनिन्दिता नाम की दो रानियाँ थीं। इस अनिन्दिता का जीव आगे चलकर बारहवें भव में शान्तिनाथ प्रभु का भाई-चक्रायुध गणधर होता है। इन दोनों रानियों के इन्द्र तथा उपेन्द्र नामके राजकुमार थे।

उस नगर में सात्यकि ब्राह्मण के सत्यभामा नामकी पुत्री थी। उसका विवाह कपिल ब्राह्मण के साथ हुआ था जो वास्तव में ब्राह्मण नहीं किन्तु शूद्र-दासीपुत्र था। सत्यभामा ने जाना कि उसका पति कोई ब्राह्मण नहीं परन्तु हीन संस्कारों का है;



इसलिये उस शीलवती स्त्री ने कपिल का त्याग कर दिया और श्रीषेण राजा की शरण लेकर उसकी रानी के साथ रहने लगी। इससे दुष्ट कपिल श्रीषेण पर क्रोधित हो गया और सत्यभामा के प्रति आसक्ति रह गई।

एक बार राजा श्रीषेण के महाभाग्य से दो मुनिवर उनके घर पधारे; उन्हें भक्तिपूर्वक आहारदान देकर श्रीषेण ने भोगभूमि की आयु का बंध किया। उस समय दोनों रानियों ने तथा सत्यभामा ने भी उन मुनिराज का आदर-सत्कार करके आहारदान का अनुमोदन किया और उन तीनों ने भोगभूमिका पुण्य बाँधा।

एक बार राजा श्रीषेण के दोनों पुत्र एक दासी पर मोहित होकर परस्पर झगड़ने लगे; जिससे राजा श्रीषेण अत्यन्त दुखी हुए, और भोग में आसक्ति यह दोनों पुत्र मेरी आज्ञा नहीं मानेंगे-इस प्रकार मानभंग से दुःखी होकर उन्होंने विषफल सूँघकर प्राणत्याग दिया। इस घटना से दोनों रानियाँ और सत्यभामा अत्यन्त दुखी हुईं और उन्होंने भी विषफल सूँघकर प्राण त्याग दिए।

ग्यारहवाँ पूर्वभव

भोगभूमि

अज्ञानभाव से प्राणत्याग करके, दान-पुण्य के प्रताप से वे चारों जीव धातकी खण्ड की भोगभूमि में अवतरित हुए।

श्रीषेण राजा और अनिन्दिता रानी वे दोनों भोगभूमि के आर्यपुरुष हुए और सिंहनन्दिता तथा सत्यभामा वे दोनों उनकी आर्या-स्त्रियाँ हुईं। यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि- देखो, पात्रदान की महिमा ! इन चारों जीवों ने विष सूँघकर अपनी आत्महत्या की थी, तथापि दान के प्रभाव से इस भोग भूमि की शुभगति में उत्पन्न हुए और देवों जैसे सुख भोगने लगे।

पश्चात् वे श्रीषेणराजा के दोनों पुत्र इन्द्र और उपेन्द्र तो दासी कन्या के लिए लड़ रहे थे, तब मणिकुण्डल विद्याधरने जोकि पूर्वभव में उनकी माता थी ने आकर कहा: 'अरे, तुम लोग क्यों लड़ रहे हो ? जिस दासीकन्या के लिए तुम लड़ रहे हो वह तो पूर्वभव में तुम्हारी छोटी बहिन थी !' यह सुनते ही दोनों राजकुमार वैराग्य को प्राप्त हुए; उन्होंने मुनिदशा ग्रहण कर ली और शुद्धभाव से आत्मा की साधना द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके तथा मोक्षदशा प्राप्त की। जीव के परिणामों का आश्चर्य तो देखो ! कि जिन पुत्रों के झगड़े से दुखी होकर राजा श्रीषेण ने आत्महत्या की और ग्यारह भव पश्चात् मोक्ष प्राप्त करेंगे- वे दोनों राजकुमार तो उसी भव में भवका अन्त करके मोक्ष में चले गए।

पात्रदान के प्रभाव से भोगभूमि में उत्पन्न हुए उन श्रीषेण आदि चारों जीवों ने असंख्य वर्षों तक कल्पवृक्षों के वचनातीत सुख भोगे। वहाँ के दस प्रकार के कल्पवृक्ष इच्छानुसार अमृतसमान निर्दोष मादक पेय, उत्तम वाद्य, हार आदि दिव्य आभूषण, सुगन्धित पुष्पमालाएँ, रत्नमणि के दीपक, दिव्य प्रकाश, राजभवन-नृत्यशाला, अमृतसमान स्वादिष्ट भोजन, सुवर्ण एवं रत्नों के बरतन और अति सुन्दर वस्त्र इत्यादि उत्तम भोग सामग्री वहाँ के पुण्यवान जीवों को देते हैं। वे कल्पवृक्ष कोई वनस्पति काय के वृक्ष नहीं हैं, तथा देवकृत भी नहीं हैं, अनादिनिधन पृथ्वी की रचना ही वैसी है और जीवों के पुण्यप्रभाव के कारण अन्य किसी निमित्त के बिना स्वभाव से ही वैसे उत्तम फल देनेवाले हैं। हे भव्य पाठक ! ऐसी सुन्दर भोगभूमिका वर्णन पढ़कर तू एक बात ध्यान में रखना कि वह जड़ रत्नभूमि एवं जड़ कल्पवृक्ष चाहे जैसे सुन्दर हो तथापि, मात्र बाह्य इन्द्रियविषयों के भोग ही देते हैं; कहीं चैतन्य का अतीन्द्रिय सुख या सम्यक्त्व वे नहीं दे सकते; अतीन्द्रिय सुख तो अपना चैतन्य कल्पवृक्ष ही प्रदान कर सकता है इसलिये उसी का सेवन करने योग्य है।

भोगभूमि के जीवों को व्रत-संयम दशा या मोक्षप्राप्ति नहीं होती; किन्हीं जीवों को सम्यग्दर्शन; आत्मज्ञान तथा चौथा गुणस्थान हो सकता है। कोई जीव मनुष्यायु का बंध करके पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त करे तो वह भी भोगभूमि में उत्पन्न होता है तथा आत्मज्ञान के बिना पात्रदान देनेवाले अत्यन्त भद्रजीव भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। वहाँ किसी पशुका भय नहीं है, रात-दिन अथवा ऋतु परिवर्तन नहीं है, शीत-उष्णता नहीं है, कोई एक-दूसरे को दुःख नहीं देते; सर्व जीव शान्त एवं भद्रपरिणामी हैं; वहाँ के सिंह आदि पशु भी मांसाहारी नहीं हैं, अहिंसक हैं। वहाँ कीड़े-मकोड़े-मच्छर आदि तुच्छ जीव नहीं होते। वहाँ के सर्व जीव सर्वांगसुन्दर होते हैं। कभी-कभी ऋद्धिधारी मुनिवर भी उस भोगभूमि में पधारते हैं और उनके उपदेश से अनेक जीव आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। पापी जीवों का वहाँ अभाव है। वहाँ के सब जीव मरने के पश्चात् स्वर्ग में ही उत्पन्न होते हैं, अन्य किसी गति में नहीं जाते। वहाँ कोई जीव दुराचारी नहीं है; किसी जीव को इष्ट वियोग नहीं होता; वहाँ किसी जीव को निद्रा, आलस्य, मलमूत्र नहीं है; थूक या पसीना नहीं है; सब जीव मृदुभाषी, मन्दकषायी और वज्रशरीरी हैं। उस भोगभूमि के जीवों को जो निश्चित सुख है वह चक्रवर्ती के वैभव में भी नहीं है। वे स्वयं अपने-अपने राजा हैं, उनके ऊपर दूसरा कोई राजा नहीं होता। जन्म के पश्चात् छह सप्ताह में वे पूर्ण युवा हो जाते हैं, मृत्यु

के समय भी उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती, अंतकाल में मात्र छींक या जँभाई आने पर वे सुखपूर्वक प्राण छोड़कर सौधर्म स्वर्ग में जाते हैं।

प्रिय पाठको ! यहां तुम तीर्थंकर जैसे उत्तम पुरुषों का जीवन चरित्र पढ़ रहे हो; उसमें पुण्यफलरूप से भोगभूमि के भोगों का या स्वर्गलोक के वैभव का जो वर्णन है वह कोई उसमें राग कराने हेतु नहीं है, परन्तु पुण्यफलरूप ऐसे भोगों में भी आत्मा का सच्चा सुख नहीं है ऐसा समझाकर उनका मोह छुड़वाने के लिए तथा आत्मा की वीतरागी धर्म की साधना में लगाने के लिए यह वर्णन है।

अज्ञान से तू ऐसे पुण्यफल की या राग की इच्छा मत करना- जोकि संसार में परिभ्रमण कराता है; राग और ज्ञान की भिन्नता का भेदज्ञान करके तू आत्म स्वभाव के सुख को ही अनुभव में लेना, जो कि संसार से छुड़ाकर सिद्धपद की प्राप्ति कराता है।

अपने चरित्रनायक तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीव जो कि पूर्वभव में श्रीषेण राजा था-वह इस भोगभूमि में उत्पन्न हुआ है। दूसरे तीन जीव भी उसके साथ उत्पन्न हुए हैं। असंख्य वर्षों तक भोगभूमि में रहने के पश्चात् आयु पूर्ण होने पर वे चारों जीव सौधर्म स्वर्ग में उत्पन्न हुए।

दसवाँ पूर्वभव

सौधर्म स्वर्ग में श्री प्रभदेव

- * राजा श्रीषेण (भावी शान्तिनाथ) का जीव श्रीप्रभ देव हुआ।
- * रानी सिंहनन्दिता का जीव उसकी देवी विद्युत्प्रभा हुई।
- * रानी अनिन्दिता (भावी चक्रायुध गणधर) का जीव विमलप्रभ देव हुआ।
- * ब्राह्मणकन्या सत्यभामा का जीव उसकी शुक्लप्रभा देवी हुई।

स्वर्गलोक में वे चारों जीव जिनभक्ति करते थे, जिनेन्द्रदेव के पंच कल्याणक में जाते थे, समवशरण में जिनवाणी सुनते थे, तथा मेरु नन्दीश्वर आदि की यात्रा करते थे और स्वर्गलोक के दैवी वैभव का भोग करते थे। अभी तक वे सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं कर पाये थे। असंख्य वर्षों तक देवलोक के दिव्य वैभव में रहकर भी अन्त में तो वे चारों देवलोक से पदभ्रष्ट हुए, क्योंकि पुण्य भी अध्रुव एवं अशरण है, उसका फल नित्य नहीं रहता। सिद्ध पद ही जीव

का ध्रुवपद है; संसार के शेष सर्वपद अध्रुव हैं ।

देवलोक से निकलकर वे चारों जीव भरत क्षेत्र में उत्पन्न हुए :—

१. राजा श्रीषेण भावी तीर्थंकर का जीव विजयार्द्ध पर 'अमिततेज' विद्याधर हुआ ।
२. रानी अनिन्दिता भावी गणधर का जीव त्रिपृष्ठ वासुदेव का पुत्र 'श्रीविजय' हुआ ।
३. रानी सिंहनन्दिता का जीव वह अमिततेज की पत्नि 'ज्योतिप्रभा' हुई ।
(श्रीविजय की बहिन ।)
४. सत्यभामा का जीव वह अमिततेज की बहिन और श्रीविजय की पत्नी 'सुतारा' हुई ।

(सत्यभामा का पति दुष्ट कपिल भव में भटकते-भटकते 'अशनिघोष' विद्याधर हुआ ।)

नवाँ पूर्वभव

भरतक्षेत्र में अमिततेज-विद्याधर और सम्यक्त्व-प्राप्ति

इस मध्यलोक में जम्बूद्वीप से लेकर स्वयंभूरमण समुद्र तक असंख्य द्वीप-समुद्र हैं; उसमें बीचोंबीच अपना यह जम्बूद्वीप है, वह सर्व द्वीपों में चक्रवर्ती समान सुशोभित होता है । उसके मध्य में एक लाख योजन ऊंचा सुदर्शन मेरु है । उसके चार वनों की चार दिशाओं में शाश्वत जिनालय हैं; इन्द्रादि देव तथा विद्याधर वहाँ दर्शन-पूजन करने आते हैं । वहाँ के पाण्डुक वन में अतिसुन्दर सिद्धशिला समान चार दिव्य शिलाएं हैं; उस पाण्डुक शिलापर भरत-ऐरावत तथा विदेहक्षेत्र के अनन्त तीर्थंकरों का जन्माभिषेक इन्द्र ने किया है, इसलिये वह पावन तीर्थ है ।

उस मेरुपर्वत की दक्षिण दिशा के छोर पर अपना यह भरतक्षेत्र है । इस भरतक्षेत्र में २४ तीर्थंकर, चक्रवर्ती तथा मोक्षगामी जीव उत्पन्न होते हैं । भरतक्षेत्र के पूर्व-पश्चिम छोर पर बीच में बैतादय-विजयार्द्धपर्वत पर उत्तर श्रेणी में ६० और दक्षिण श्रेणी में ५० इस प्रकार कुल ११० अति सुन्दर नगरियाँ हैं, जिनमें विद्याधर-मनुष्यों का वास है; वे जैनधर्म के उपासक हैं; वहाँ विधर्मी नहीं बसते और सदा सुकाल वर्तता है । जब छठवें आरे में भरतक्षेत्र के अन्य समस्त भागों में महाप्रलय होगा तब भी विजयार्द्धपर्वत के ऊपर की नगरियाँ ज्योंकी त्यों शाश्वत रहेंगी । वहाँ एक शाश्वत जिनमन्दिर भी है; वहाँ के मनुष्य सदा

जिनपूजा, शास्त्र स्वाध्याय तथा पात्रदान करते हैं। वहाँ अनेक मुनिवर भी विचरते हैं।

उस विजयाब्द पर रथनूपुर-चक्रबाल नाम की एक सुन्दर नगरी है। अपने चरित्रनायक भगवान शान्तिनाथ श्रीषेण राजा का जीव स्वर्गलोक ये चलकर उस नगरी में 'अमिततेज' नामका विद्याधर हुआ। उस समय भरतक्षेत्र में ग्यारहवें तीर्थंकर का शासन चल रहा था।

उस रथनूपुर नगरी में 'ज्वलनजटी' नामक राजा थे। वे जैनधर्म के प्रेमी सम्यग्दृष्टि और चरमशरीरी थे। उनका पौत्र 'अमिततेज' था।

* राजा ज्वलनजटीका अर्ककीर्ति नामक गुणवान पुत्र था; उस अर्ककीर्ति का विवाह पोदनपुर के राजकुमार त्रिपृष्ठ वासुदेव महावीर के जीव की बहिन ज्योतिमाला के साथ हुआ था। उन अर्ककीर्ति-ज्योतिमाला का पुत्र अमिततेज; उसका विवाह मामा त्रिपृष्ठ की पुत्री ज्योतिप्रभा के साथ हुआ था।

* यह त्रिपृष्ठ ही महावीर प्रभु का जीव पूर्व के १४ वें भव में है और अमिततेज वह शान्तिनाथ भगवान का जीव पूर्व के ९ वे भव में है; इसप्रकार दोनों तीर्थंकरों के जीव उस भव में मामा-भानजा, अथवा तत्कालीन रीति के अनुसार श्वसुर-जमाई थे।

* त्रिपृष्ठ के पुत्र श्रीविजय जो कि भावी शान्तिनाथ के भाई चक्रायुध गणधर का जीव है के साथ अमिततेज की बहिन 'सुतारा' का विवाह हुआ। अमिततेज के जीव ने पूर्वभव में सत्यभामा ब्राह्मणी के प्रति वात्सल्य दिखाया था, इसलिये इस भव में वह उसकी बहिन हुई।

* 'अमिततेज' की बहिन का विवाह श्रीविजय से हुआ और श्रीविजय की बहिन का अमिततेज से; इसप्रकार बारह भव तक साथ रहेवाले वे दोनों तीर्थंकर-गणधर जीव इस नौवें पूर्वभव में परस्पर बहनोई थे। श्रीविजय के ऋषभदेवकी वंशपरम्परा के थे और अमिततेज नमि-विनमि विद्याधरकी वंशपरम्परा के थे; वंश परम्परा के दोनों कुल का विवाह-सम्बन्ध चला आता था।

ऐसे उन पुत्र-पौत्र के परिवार सहित महाराजा ज्वलनजटी विजयाब्द के विद्याधरों पर राज करते थे। राज्य का संचालन करते हुए भी वे धर्मात्मा आत्मसाधना को नहीं भूलते थे। धर्मजीवन जीने वाले उन महाराजा ज्वलनजटी के महाभाग्य से एकबार जगनन्दन तथा अभिनन्दन नामके दो गगनगामी मुनिवर

उनकी नगरी में पधारे। राजा ने अत्यन्त भक्तिभाव से वहाँ जाकर वन्दन के पश्चात् स्तुति की। देव ! आप रत्नत्रय के वीतरागी वैभव से सुशोभित हो, आपके पास बाह्य में धन-वस्त्रादि कोई वैभव न होने पर भी आपके वीतरागी वैभव पर मुग्ध होकर मुक्ति सुन्दरी भी आपसे भेंट करने के लिये लालायित है। हे प्रभो ! आपका वीतरागी जीवन ही सुखी जीवन है। इसप्रकार राजा ने स्तुति की और मुनिराज ने उनको धर्मवृद्धि का आशीर्वाद दिया। राजा ने सम्यक्चसहित व्रत अंगीकार किये।

एकबार महाराज ज्वलनजटी राजसभा में बैठे थे। वहाँ एक दूत समाचार लाया कि त्रिपृष्ठ वासुदेव क पिता पोदनपुर के राजा प्रजापति दीक्षा लेकर मुनि हुए और केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त किया है; यह सुनकर राजा ज्वलनजटी वैराग्य को प्राप्त हुए और जगनन्दन मुनिराज के निकट मुनिदीक्षा ग्रहण कर ली; पश्चात् शुद्धोपयोग द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके वे भी मोक्ष को प्राप्त हुए।

तत्पश्चात् त्रिपृष्ठ वासुदेव तो मरकर सातवें नरक में गया; उसके भाई विजय बलभद्र दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त हुए; तथा अर्ककीर्ति अमिततेज के पिता भी वैराग्य प्राप्त करके दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त हुए। रथनूपुर में तो अब अपने चरित्रनायक 'अमिततेज' विद्याधरों के राजा बन गये, और पोदनपुर के राजा श्री विजय हुए। उन दोनों में परस्पर अति स्नेह है, दोनों एक-दूसरे के बहनोई हैं और आठभव के पश्चात् वे तीर्थकर तथा गणधर होनेवाले हैं।

एक बार राजा श्रीविजय अपनी रानी सुतारा के साथ विमान में बैठकर वन विहार करने गये थे। वहाँ उनका पूर्वभव शत्रु कपिल-जोकि वर्तमान अशनिघोष नामक बलवान विद्याधर राजा था, वह सुतारा पर मोहित होकर उसका अपहरण कर ले गया। इससे अमिततेज और श्रीविजय विशाल सेनासहित अशनिघोष से युद्ध करने चले। अशनिघोष भयभीत होकर भागा। उसके सद्भाग्य से ठीक उसी समय विजय बलभद्र मुनि-जो कि केवलीरूप में विचर रहे थे वे- गंधकुटी सहित वहाँ पधारे। अशनिघोष ने उन भगवान की धर्मसभा में प्रवेश किया और प्रभु के दर्शन से उसका चित्त शांत हुआ।

अमितेज तथा श्रीविजय भी क्रोधाविष्ट होकर उसे मारने के लिये उसके पीछे दौड़े; परन्तु केवलीप्रभु की धर्मसभा में आते ही उनका क्रोध दूर हो गया। इसप्रकार प्रभु के समीप सबके परिणाम बिल्कुल शांत हो गये और परस्पर का वैरभाव भूल गये; उसी समय अशनिघोष की माता भी सुतारा को लेकर वहाँ आ पहुँची और सुतारा को उसके पति को सौंपकर अपने पुत्र के अपराध हेतु

क्षमायाचना की। अहा, जिनेन्द्रदेव के सान्निध्य में क्रूर पशु भी वैरभाव छोड़कर शांत हो जाते हैं वहाँ मुनियों की तो बात ही क्या !!

प्रभु की परमशांत मुद्रा के दर्शन से सब अत्यन्त प्रसन्न हुए और सबने विजयप्रभु के समवशरण में बैठकर धर्मोपदेश श्रवण किया। (श्री विजय राजा जो कि त्रिपृष्ठ वासुदेव के पुत्र हैं; त्रिपृष्ठ वासुदेव के भाई विजयबलभद्र दीक्षा लेकर केवली हुए हैं।)

दिव्यध्वनि में प्रभु ने कहा : हे जीवो ! आत्मा ज्ञानस्वरूप है, क्रोध उसका स्वभाव नहीं है। जीव का स्वभाव शांति एवं ज्ञान-आनन्दमय है। क्रोधादि कषायों द्वारा जीव की शांति का घात होता है।

अंतर में चैतन्य परमतत्व है; उस स्वतत्त्व की महिमा का चिन्तन करने से क्रोधादि भाव शांत हो जाते हैं और सम्यक्त्वादि भाव प्रगट होते हैं; उस स्वतत्त्व की महिमा का चिन्तन करने से क्रोधादि भाव शांत हो जाते हैं और सम्यक्त्वादि भाव प्रगट होते हैं; भव्य जीव ऐसे सम्यक्त्व को प्रगट करके भवदुःख से छूट जाते हैं और सिद्धिसुख प्राप्त करते हैं।

अमिततेज (जो कि भावी तीर्थंकर है) को प्रभुका उपदेश सुनकर अंतर्मुख दृष्टि जागृत हुई उसकी चेतना एकदम शांत होकर कषायों से भिन्न हो गई और अंतर में अपने परमात्मतत्व का अनुभव करके उसी समय उसने अपूर्व सम्यग्दर्शन प्रगट किया। अहा, आत भव पूर्व एक तीर्थंकर की आत्मसाधना प्रारम्भ हुई।

श्रीविजय ने भी उसी समय सम्यग्दर्शन धारण किया। यहाँ से अपने चरित्रनायक शान्तिनाथ तीर्थंकर तथा उनके भाई चक्रायुध गणधर का धर्मसाधनामय मंगल जीवन प्रारम्भ होता है। धन्य वह सम्यक्त्व जीवन ! सम्यक्त्व-प्राप्ति से उनको मोक्षप्राप्ति जैसा महान सुख हुआ।

तत्पश्चात्, सम्यक्त्वप्राप्ति से जिनके चैतन्यप्रदेशों में अपूर्व आनन्द तरंगें उछल रही हैं और जिन्होंने देशव्रत धारण किये हैं ऐसे उन अमिततेज विद्याधर को अपने पूर्वभव जानने की जिज्ञासा हुई। इसीलिए उन्होंने विनयपूर्वक पूछा-हे सर्वज्ञदेव ! मुझे और इस श्री विजय को एक दूसरे के प्रति परम स्नेह क्यों है ? तथा इस अशनिघोष ने मेरी बहिन सुतारा का अपहरण क्यों किया ?

भगवान् ने दिव्यध्वनि में उनके पूर्वभव निम्नप्रकार बतलाये —

* हे अमित तेज ! पूर्व भव में तू श्रीषेण राजा था; वहाँ आत्महत्या से मरकर, पात्रदान के पुण्य से भोगभूमि में उत्पन्न हुआ; पश्चात् श्रीप्रभु देव और वहाँ से यह अमिततेज हुआ है ।

* यह श्रीविजय का जीव पूर्वभव में तेरी (श्रीषेण) की अनिन्दिता रानी थी; भोगभूमि में भी वह जीव तेरे साथ था, देव के भव में वह तेरे साथ विमलप्रभ देव था; और वहाँ से तेरा स्नेही बहनोई श्रीविजय हुआ है ।

तेरी बहिन सुतारा पूर्व में सत्यभामा नामकी ब्राह्मण कन्या थी; तब यह अशनिघोष का जीव उसका पति कपिल था; परन्तु सत्यभामा उसे छोड़कर तेरी (श्रीषेण की) शरण में आ गई थी । वह सत्यभामा पात्रदान का अनुमोदन करके भोगभूमि में तथा स्वर्गलोक में तेरे साथ ही थी । वहीं यहाँ पूर्वभव के स्नेह के कारण तेरी बहिन हुई है ।

* पूर्वभव के मोह के कारण अशनिघोष ने सुतारा का अपहरण किया था; परन्तु अन्त में तुझसे भयभीत होकर वह यहाँ धर्मसभा में आया; उसके पीछे तू भी यहाँ आया और सम्यग्दर्शन प्राप्त करके मोक्ष की साधना प्रारम्भ की ।

इसप्रकार पूर्वभव बतलाकर केवली प्रभु ने कहा— हे अमिततेज ! अब आत्मसाधना में उन्नति करते-करते नवें भव में तुम्हारा आत्मा भरतक्षेत्र में पंचमचक्रवर्ती तथा सोलहवाँ तीर्थकर होकर मोक्षप्राप्त करेगा और तब यह श्रीविजय तुम्हारा भाई होकर चक्रायुध गणधर होगा । अब शेष भवों में वह तुम्हारे साथ ही साथ रहेगा ।

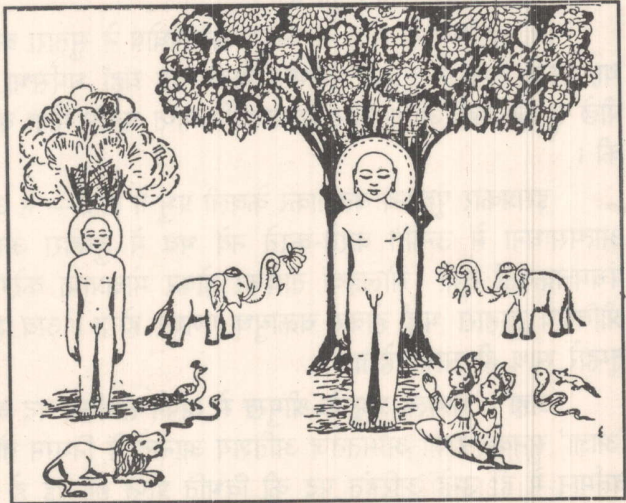
अहा ! केवली प्रभु के श्रीमुख से अपने तीर्थकर पद की ओर मोक्ष की 'आज्ञा' सुनकर राजा अमिततेज अतिशय आनन्द में निमग्न हो गये और मानो वर्तमान में ही उन्हें अरिहंत पद की विभूति प्राप्त हो गई हो इसप्रकार संतुष्ट हुए । अपने गणधर पद की बात सुनकर श्रीविजय को भी महान आनन्द हुआ ।

अशनिघोष को अपने पूर्वभव की कथा सुनकर जातिस्मरण हुआ और वैराग्य प्राप्त करके उसने दीक्षा ले ली । सुतारादेवी तथा ज्योतिप्रभा भी अपने पूर्वभव सुनकर संसार से विरक्त हो गईं और दीक्षा लेकर आर्यिका बन गईं । इसप्रकार सब जीवों ने केवली प्रभु के उपदेश से आत्महित किया ।

अपने चरित्र अभिनेता अमिततेज और श्रीविजय दोनों ने अपूर्व सम्यग्दर्शन द्वारा चैतन्यनिधान प्राप्त किये और देशव्रत अंगीकार करके

अपनी-अपनी नगरी में लौटे। अब राजा अमिततेज के अंतरंग जीवन में, एक महान परिवर्तन हो गया। 'दास भगवन्त के उदास रहें जगत सो'- ऐसा आदर्श श्रावक जीवन वे जी रहे थे। विद्याधरों की दोनों श्रेणी के स्वामी होने से वे विद्याधरों के 'चक्रवर्ती' थे, तथापि इतने महान राजवैभव में रहते हुए भी अपनी आत्मसाधना को क्षणभर नहीं भूलते थे। अनेक लोगों को प्रश्न उठता है कि- 'क्या, ऐसे राजवैभव में रहकर भी धर्म की साधना हो सकती है ?' महाराजा अमिततेज का जीवन देखकर उनके इस प्रश्न का समाधान हो जाता कि-हाँ, गृहस्थ दशा में भी आत्मज्ञान के बल से धर्मसाधना मोक्षमार्ग चलती रहती है; क्योंकि ज्ञानी की चेतना राग से तथा संयोग से अलिप्त रहती है। महाराजा अमिततेज ऐसा धर्मजीवन जीते थे, और उनका वह मंगलजीवन अन्य जीवों को भी आत्महित की प्रेरणा देता था।

एक बार राजा अमिततेज तथा श्रीविजय रमणीय तीर्थों की यात्रा करने निकले। वहाँ एक शांत उद्यान में अमरगुरु तथा देवगुरु नामक दो मुनिराजों को देखा। अहा! वीतरागी आत्म तेज से प्रकाशित



उन मुनिवरों की शांतमुद्रा देखकर वे दोनों मुग्ध हुए। मुनिराज ने उनको सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र का उपदेश दिया और तीर्थकरादि महापुरुषों का चरित्र सुनाया।

तब श्री विजय ने अपने पिता त्रिपृष्ठ वासुदेव के पूर्वभव पूछे।

मुनिराज ने कहा- हे भव्य, सुन ! तेरे पिता इस चौबीसी में अन्तिम तीर्थकर महावीर होंगे। पूर्वभव में वह जीव ऋषभदेव का पौत्र मरीचिकुमार था, परन्तु उसे धर्म की प्राप्ति नहीं होने से, दीर्घकाल तक संसार में भटक- भटककर

नरक-निगोद के असंख्य भव धारण किये। पश्चात् विश्वनन्दि राजकुमार हुआ, उद्यान के निमित्त से वैराग्य धारण करके धर्म प्राप्त किया और मुनि हुआ; परन्तु भोगों के निदान से धर्मभ्रष्ट हुआ, और अनुक्रम से त्रिपृष्ठ वासुदेव हुआ। वह तीन खण्ड की श्रेष्ठ विभूति का भोक्ता था; उसका वैभव अपार था; तीनों खण्ड के हजारों देव और सोलह हजार राजा उसकी सेवा करते थे; परन्तु धर्म को भूलकर विषय-भोगों की तीव्र लालसा में जीवन गँवाकर वह नरक में गया है और महा दुख भोग रहा है। नरक से निकलकर अगले भवों में सिंह होकर वह धर्म प्राप्त करेगा; फिर अनुक्रम से चक्रवर्ती होकर अन्त में महावीर तीर्थंकर होगा।

राजा श्रीविजयने अपने पिता की तीन खण्ड की विभूति का वर्णन सुनकर आश्चर्यचकित हो गया और स्वयं भी धर्म के फल में ऐसी विभूति की लालसा करके उसका निदान बंध कर बैठा ! अरेरे ! हाथ में आये हुए धर्म का अमृत छोड़कर उसने विषयों के विष की वांछा की !

वहाँ से घर आकर दोनों ने अनेक वर्षों तक राजसुख भोगा। उनके पुण्ययोग से एकबार पुनः दो मुनिराजों के दर्शन हुए। धर्मकथा के पश्चात् मुनिराज ने कहा : हे भद्र ! अब तुम दोनों की आयु का एकमास शेष है, इसलिये धर्मसाधना में चित्त लगाओ।

यह बात सुनकर अमिततेज तथा श्रीविजय दोनों वैराग्यभावना का चिंतन करने लगे। यह शरीर-संसार-भोग अस्थिर और क्षणभंगुर हैं; उनमें सुख नहीं हैं; चैतन्यतत्त्व ही स्थिर अविनाशी एवं सुख का धाम है। ऐसे चितन द्वारा वैराग्य में वृद्धि करके वे संसार से विरक्त हुए; दोनों ने अपने-अपने पुत्रों को राज्य सौंपकर सिद्धकूट चैत्यालय में जाकर महान पूजा की, दान दिया और पश्चात् वहाँ के चन्दनवन में नन्दन मुनिराज के निकट जिनदीक्षा धारण कर ली। अन्त में, प्रायोपगमन सन्यासपूर्वक शरीर का त्याग करके कहाँ उत्पन्न हुए? वह अब देखें।

आठवाँ पूर्वभव

आनतस्वर्ग में

अपने चरित्रनायक तीर्थंकर शान्तिनाथ तथा उनके भाई चक्रायुध गणधर-दोनों जीव पूर्व नौवें भव में अमिततेज और श्रीविजय राजा थे; उन्होंने मुनि होकर सन्यासपूर्वक शरीर छोड़ा और १३ वें आनतस्वर्ग में देव पर्याय में

उत्पन्न हुए। उनके नाम रविचूल और मणिचूल थे। उस देवविमान में सौ योजन लम्बा, पचास योजन चौड़ा और पचहत्तर योजन ऊंचा रत्नमय अकृत्रिम जिनमन्दिर है और उसमें 108 प्रतिमाएँ हैं। वहाँ जाकर दोनों देवों ने जिनविम्ब की पूजा की। उस स्वर्ग लोक में आश्चर्यकारी वैभव थे; उन्हें अवधिज्ञान तथा अनेक लब्धियाँ थीं; वहाँ प्रतिदिन नये-नये उत्सव होते थे। स्वर्गलोक में उन दोनों देवों ने पुण्य के फल में असंख्य वर्षों तक उत्तम दैवी सुख भोगे; परन्तु वे पुण्यवैभव उन्हें तृप्त नहीं कर सके, मात्र आकुलता ही दी। अंत में थककर वे मनुष्य लोक में आँने को तैयार हुए; तब उनके शेष बचे पुण्य भी मनुष्य लोक में उनके साथ आये।

सातवाँ पूर्वभव

विदेहक्षेत्र में अपराजित बलभद्र और अनन्तवीर्य वासुदेव

जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में वत्सकावती देश है, जहाँ सदा अनेक केवली भगवन्त और मुनिवर विचरते हैं तथा जैनशासन का धर्मचक्र सदा चलता रहता है। वहाँ के लोग जैनधर्म में तत्पर हैं और स्वर्ग के देव भी वहाँ धर्मश्रवण करने आते हैं। उस देश की प्रभाकरी नगरी में धर्मात्मा स्मित सागर महाराज राज्य करते थे। अपने कथानायक 'तीर्थकर-गणधर'- यह दोनों जीव रविचूल देव तथा मणिचूल देव स्वर्गलोक से निकलकर उन राजा के पुत्र हुए; उनके नाम- अपराजित और अनन्तवीर्य थे। वे अपने साथ महान पुण्य लेकर आये थे इसलिये वे बलदेव-वासुदेव हुए।

राजा स्मित सागर दोनों पुत्रों को राज्य सौंपकर संसार से विरक्त हुए और स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के निकट दीक्षा लेकर मुनि हो गये; परन्तु एक बार धरणेन्द्रदेव की दिव्यविभूति देखकर उन्होंने उसका निदान किया, इसलिये चारित्र से भ्रष्ट होकर पुण्य को अति अल्प करके, मृत्यु के पश्चात् धरणेन्द्र हुए। अरेरे ! निदान वह वास्तव में निन्दनीय है जो कि जीव को धर्म से भ्रष्ट करके दुर्गति में भ्रमण कराता है।

यहाँ प्रभाकरी नगरी में अपराजित तथा अनन्तवीर्य के राज्यवैभव में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होने लगी। उनकी राज्यसभा में बर्बरी आरै चिलाती नामकी दो राजनर्तकियाँ थीं; वे देश विदेश में प्रख्यात थीं। उन दिनों शिवमन्दिर नाम की विद्याधर नगरी में राजा दमितारी राज्य करता था; वह प्रति वसुदेव था; उसने तीन खण्ड पृथ्वी जीत ली थी और उसके शस्त्रभण्डार में एक दैवी चक्र उत्पन्न

हुआ था। उस दमितारी राजा ने दो नर्तकियों की प्रशंसा सुनी; उसने बलदेव-वासुदेव को आदेश दिया कि दोनों नर्तकियाँ मुझे सौंप दो और मेरी आज्ञा में रहकर राज्य करो।

दोनों भाइयों ने युक्ति सोची; वे स्वयं ही नर्तकी का रूप धारण करके दमितारी के राजमहल में गये और उसकी पुत्री कनकश्री का अपहरण कर ले गये।

कनकश्री के अपहरण की बात सुनते ही राजा दमितारी सेना लेकर उन दोनों के साथ युद्ध करने गया। वह जब किसी प्रकार जीत नहीं सका तब उसने अपना दैवी चक्र अनन्तवीर्य को मारने के लिए उस पर फेंका; परन्तु अनन्तवीर्य के पुण्यातिशय के कारण वह चक्र उसके निकट आते ही शांत हो गया और उलटा उसका आज्ञाकारी बन गया। अनन्तवीर्य ने क्रोधपूर्वक उस चक्र द्वारा दमितारी का शिरविच्छेद कर दिया। अरेरे ! उसी के चक्र ने उसी का वध कर दिया ! मरकर वह नरक में गया। (दमितारी प्रति वासुदेव के पिता कीर्तिधर मुनि हुए थे और केवलज्ञान प्रगट करके अरिहंत रूप में विचर रहे थे। अरे, पिता तो केवली हुए और पुत्र नरक में गया ! पुत्री कनकश्री अपने दादा कीर्तिधर भगवान के समवशरण में अपने पूर्वभव जानकर, संसार से विरक्त होकर आर्यिका हुईं और समाधिमरण करके स्वर्ग में देवीरूप से उत्पन्न हुईं।)

अपराजित और अनन्तवीर्य दोनों भाई अर्थात् शान्तिनाथ तीर्थकर तथा चक्रायुध गणधर के जीव, पूर्व के सातवें भव में विदेहक्षेत्र में बलदेव-वासुदेव रूप में प्रसिद्ध हुए। हजारों राजा तथा देव उनकी सेवा करते थे; तीन खण्ड की उत्तम विभूति उन्हें प्राप्त हुई थी, अनेक दैवी विद्याएँ भी उनको सिद्ध थीं। यह सब जिनधर्म की सेवा-भक्ति का फल था। शास्त्रकार कहते हैं कि - हे भव्य जीवो ! मोक्ष के हेतु जैन धर्म की उपासना करो। अहा, जैनधर्म की उपासना तो मोक्षफल प्राप्त कराती है; वहाँ बीच में स्वर्गादिकी तो गिनती ही क्या।

विदेह क्षेत्र की प्रभाकरी नगरी में बलदेव-वासुदेव सुखपूर्वक तीन खण्ड का राज्य करते थे। एक बार अपराजित बलदेव की पुत्री सुमतिदेवी के विवाह की तैयारियाँ चल रही थी; अति भव्य विवाह-मण्डप के बीच सुमति कुमारी सुन्दर श्रृंगारसे सुसज्जित होकर आयी थी कि इतने में आकाश से एक देवी उतरी और सुमति से कहने लगी- हे सखी ! सुन, मैं तेरे हित की बात करती हूँ। मैं स्वर्ग की देवी हूँ, तू भी पूर्वभव में देवी थी और हम दोनों सहेलियाँ

थीं। एक बार हम दोनों एक साथ नन्दीश्वर जिनालयों की पूजा करने गये थे। पश्चात् हम दोनों ने मेरु जिनालय की भी वंदन की; वहाँ एक ऋद्धिधारी मुनि के दर्शन किये और धर्मोपदेश सुनकर हमने उन मुनिराज से पूछा कि हे स्वामी ! इस संसार में हम दोनों की मुक्ति कब होगी ?

मुनिराज ने कहा-तुम चौथे भव में मोक्ष प्राप्त करोगी। देवी कहने लगी-हे सुमति ! यह सुनकर हम दोनों अति प्रसन्न हुए थे और हम दोनों ने मुनिराज के समक्ष एक-दूसरे को वचन दिया था कि हम में से जो पहले मनुष्य लोक से अवतरित हो, उसे दूसरी देवी संबोधकर आत्महित की प्रेरणा दे, इसीलिए हे सखी ! मैं स्वर्ग से उस वचन का पालन करने आयी हूँ। तू इन विषय भोगों में न पड़कर संयम धारण कर और आत्महित कर ले !

विवाह-मण्डप के बीच देवी की यह बात सुनते ही भावी तीर्थंकर ऐसे बलदेव की वीरपुत्री सुमति को अपने पूर्वभव का स्मरण हुआ और वैराग्य को प्राप्त हुई; उसने अन्य सात सौ राजकन्याओं के साथ जिनदीक्षा ग्रहण की और आर्यिका व्रत का पालन करके, स्त्रीपर्याय छोड़कर उस सुमति का जीव बारहवें स्वर्ग में देव हुआ।

अचानक विवाह-मण्डप में ही राजकुमारी को 'विवाह के समय वैराग्य'की घटना से चारों ओर आश्चर्य फैल गया। बलभद्र का चित्त भी संसार से उदास हो गया। यद्यपि उनको संयम भावना जागृत हुई, किन्तु अपने भ्राता अनन्तवीर्य के प्रति तीव्र स्नेह के कारण वे-संयम धारण न कर सके। ऐसा महान वैराग्य प्रसंग प्रत्यक्ष देखकर भी अनन्तवीर्य वासुदेव के पूर्व काल के निदानबंध के मिथ्या संस्कार वश किंचित भी वैराग्य नहीं हुआ; उसका जीवन दिन-रात विषय-भोगों में ही आसक्त रहा। तीव्र विषयासक्ति के कारण सदा आर्त-रौद्र ध्यान में वर्तता हुआ वह पंचपरमेष्ठी को भी भूल गया। अरे, जिस धर्मानुराग के कारण वह ऐसे पुण्यभोगों को प्राप्त हुआ था, उस धर्म को ही वह भूल गया था ! अपने भाई के साथ अनेकों बार वह प्रभु के समवशरण में भी जाता था और धर्मोपदेश भी सुनता था; परन्तु उसका चित्त तो विषय-भोगों में रंगा हुआ था। अरेरे ! जिसका चित्त ही मैला हो उसे परमात्मा का संयोग भी क्या कर सकेगा ? तीव्र आरम्भ परिग्रह से कलुषित भाव के कारण वह अनन्तवीर्य रौद्रध्यानपूर्वक मरकर नरक में गया।

नरक में उत्पन्न होते ही वह अर्धचक्रवर्ती का जीव महाभयंकर बिल में से औंधे सिर नीचे की कर्कशभूमि पर जा गिरा। नरकभूमि के स्पर्शमात्र से उसे

इतना भयंकर दुःख हुआ कि पुनः पाँचसों धनुष उपर उछला और फिर नीचे गिरा। उसे असह्य शारीरिक वेदना थी; उसे देखते ही दूसरे हजारों नारकी मारने लग गये। ऐसे भयंकर दुःख देखकर उसे विचार आया कि अरे, मैं कौन हूँ ? कहाँ आकर पड़ा हूँ ? मुझे अकारण ही इतना दुःख देनेवाले यह क्रूर जीव कौन हैं ? यहाँ कौन मुझे बचायेगा ? भीषण ताप और भूख-प्यास के कारण मुझे मृत्यु से भी अधिक वेदना हो रही है; मुझे बहुत प्यास लगी है, लेकिन पानी कहाँ मिलेगा ? इसप्रकार दुःखों से चिल्लाता हुआ वह जीव इधर से उधर भटकने लगा। वहाँ उसे कुअवधिज्ञान हुआ और उसने जाना कि-अरे, यह तो नरक भूमि है; पापों के फल से मैं नरकभूमि में आ पड़ा हूँ और यह बस नारकी तथा परमाधामी असुर देव मुझे भयंकर दुःख देकर मेरे पापों का फल चखा रहे हैं। अरेरे ! दुर्लभ मनुष्यभव विषयभोगों में गँवाकर मैं इस घोर नरक में पड़ा हूँ ! मुझ मूर्ख ने पूर्वभव में धर्म के फल में भोगों की चाह करके सम्यक्त्व रूपी अमृत को ढोल दिया और विष समान विषयों की लालसा की। उस भूल के कारण मुझे वर्तमान में कैसे भयंकर दुःख भोगना पड़ रहे हैं ! अरेरे, विषयों में से सुख तो मुझे किंचित भी नहीं मिला, उलटा उनके सेवन से दुःखों के इस समुद्र में आ पड़ा हूँ ! बाह्य विषयों में सुख है ही कहाँ ? सुख तो आत्मा में है। अतीन्द्रिय आत्मसुख की प्रतीति करके मैं पुनः अपने सम्यक्त्व को ग्रहण करूँगा, ताकि फिर कभी ऐसे घोर नरको के दुःख नहीं सहना पड़ें ! इस प्रकार पश्चाताप सहित नरक के घोरतिघोर दुःखों को सहन करते हुआ वह अनन्तवीर्य का जीव अपनी असंख्यात वर्ष नरकायुका एक-एक पल बड़ी कठिनाई पूर्वक रो-रोकर व्यतीत करता रहा था। अरे, उसे दुःख का अल्प वर्णन लिखते हुए भी कँपकँपी आती है तो वह दुःख सहन करने वाले की पीड़ा को तो हम क्या कहें ? वह तो वही वेदे और केवलीप्रभु ही जानें !

अब, इस ओर प्रभाकरी नगरी में अपने भ्राता अनन्तवीर्य वासुदेव की अचानक मृत्यु हो जाने से अपराजित बलभद्र को तीव्र आघात लगा। 'मेरे भाई की मृत्यु हो चुकी है'- ऐसा स्वीकार करने का उसका मन तैयार नहीं था। यद्यपि स्वात्मतत्त्व के सम्बन्ध में उस समय उसका ज्ञान जागृत था, परन्तु वे भ्रातस्नेह के कारण मृतक को जीवित मानने की परज्ञेय सम्बन्धी भूल कर बैठे। वे अनन्तवीर्य के मृत शरीर को कन्धे पर उठाकर इधर-उधर घूमते फिरे; उसके साथ बात करने की तथा खिलाने-पिलाने की चेष्टाएँ कीं ! उदयभाव की विचित्रता तो देखो ! सम्यक्त्व की भूमिका में स्थित एक भावी तीर्थकर स्वयं भावी गणधर

के मृत शरीर का लेकर छह महीने तक फिरते रहे, किन्तु धन्य है उनकी सम्यक्त्व चेतनाको जिसने अपनी आत्मा को उस उदयभाव से भिन्न का भिन्न ही रखा ! भाग्ययोग से उसी काल में उन बलभद्रजी को यशोधर मुनिराज का समागम हुआ; उन्होंने चैतन्यतत्व का अद्भुत उपदेश देकर कहा कि हे राजन् ! तुम तो आत्मतत्व के ज्ञाता हो। इसलिये अब इस बन्धुमोह को तथा शोक को छोड़ो और संयम धारण करके अपना कल्याण करो। छह भव के पश्चात् तो तुम भरतक्षेत्र में तीर्थकर होगे; यह मोहासक्तिपूर्ण चेष्टाएँ तुम्हें शोभा नहीं देती; इसलिये अपने चित्त को शांत करो और उपयोग को आत्मध्यान में लगाओ।

मुनिराज का उपदेश सुनते ही बलदेव को वैराग्य उत्पन्न हुआ; उनकी चेतना चमक उठी अरे ! किसका शरीर और कौन भाई ? जहाँ यह शरीर ही अपना नहीं है वहाँ दूसरा कौन अपना होगा !

अरे, मैंने मोहचेष्टा में व्यर्थ ही समय गँवा दिया-ऐसा विचार कर उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा लेकर उन अपराजित मुनिराज ने अपना मन आत्मसाधना में ही लगाया, और अंत समय में उत्तम ध्यानपूर्वक शरीर त्यागकर वे महात्मा सोलहवें अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए।

छठवाँ पूर्वभव

अच्युतस्वर्ग में इन्द्र

अपने चरित्रनायक भगवान शांतिनाथ जो अपराजित बलभद्र थे और पश्चात् मुनि दीक्षा लेकर समाधिमरणकरके अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए; उनके अवतरित होते ही स्वर्गलोक में मंगलवाद्य बजने लगे। देव देवियाँ उन्हें वन्दन करके आदर सत्कार करने लगे। वहाँ की आश्चर्यजनक विभूति देखकर भी उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ। क्योंकि वे जानते थे कि मैंने पूर्वभव में आत्मा की आराधना की है; इस वैभव का एक रजकण भी मेरे आत्मा का नहीं है, बस कुछ मुझसे भिन्न ही है। इसप्रकार निर्मोह रूप से धर्म की महिमापूर्वक सर्वप्रथम उन्होंने इन्द्रलोक में विराजमान जिनप्रतिमा की भक्ति सहित पूजा की



और पश्चात् इन्द्रपद स्वीकार किया। ऐसा करके उन्होंने ऐसा भाव प्रगट किया कि - हे जिनदेव ! हमें यह स्वर्ग वैभव इष्ट नहीं है, हमें तो आप जैसा वीतरागी आत्मवैभव ही इष्ट है। आश्चर्यकारी इन्द्रलोक के वैभव में भी लुभाना नहीं-यह कोई साधारण बात है ? नहीं, यह तो असाधारण बात है। आत्मतत्त्व की अद्भुतता को जाननेवाले भगवान शान्तिनाथ जैसे सम्यग्दृष्टि महात्मा ही वह कर सकते हैं।

उन अच्युत इन्द्र को महान अवधिज्ञान तथा विक्रियादि ऋद्धियाँ थीं वे बारम्बार तीर्थकरों के पंचकल्याणक में जाते, भव्य इन्द्रसभा में सम्यग्दर्शन की चर्चा करके उसकी अपार महिमा प्रकट करते और चारित्रदशा की भावना भाते। इसप्रकार सुखपूर्वक स्वर्ग की आयु व्यतीत करते थे।

अरे, जीवनभर तथा भव-भवान्तर से साथ रहेनेवाले तथा भविष्य में भी तीर्थकर-गणधर होने वाले वे भाई पृथक हो गये-एक स्वर्ग में और दूसरा नरक में ! उसका नरक-दुःख देखा नहीं जाता, इसलिये कथा को आगे बढ़ाने से पूर्व उस अनन्तवीर्य के जीव को नरक से बाहर लायें और स्वर्ग में दोनों भाइयों का मिलाप करा दें।

पहले हम पढ़ चुके हैं कि अपराजित और अनन्तवीर्य के पिता स्मितसागर दीक्षा लेकर मुनि हुए थे और निदान बन्ध करके धरणेन्द्र पर्याय में उपजे थे। एक बार उन धरणेन्द्र ने अवधिज्ञान से जाना कि पूर्वभव का मेरा पुत्र अनन्तवीर्य मरकर नरक में गया है; इसलिये तुरन्त वे धरणेन्द्र उसे प्रतिबोधने के लिये नरक में पहुँचे। धरणेन्द्र का देखते ही नारकी जीवों को आश्चर्य हुआ कि-यह कोई प्रभावशाली देव हमें मारने के लिए नहीं किन्तु शान्ति प्रदान करने आये हैं;-ऐसा समझकर वे सब नारकी क्षणभर के लिए एक-दूसरे से लड़ना झगड़ना छोड़कर धरणेन्द्र की बात सुनने को आतुर हुए।

धरणेन्द्र ने अनन्तवीर्य के जीव को सम्बोधित हुए कहा- हे भव्य ! इससे पूर्व के भव में तू तीनखण्ड का स्वामी वासुदेव था और मैं तेरा पिता था। धर्म को भूलकर विषय-भोगों की तीव्र लालसा के कारण तुझे यह नरक मिला है। अब फिर से अपने आत्मा की सुरक्षा कर और अपने खोये हुए सम्यक्त्व-रत्न को पुनः प्राप्त कर ले ! मैं धरणेन्द्र हूँ और तुझे प्रतिबोधने के लिये ही यहाँ आया हूँ।

अहा, मानो नरक में अमृत पीने को मिला हो ! तदनुसार धरणेन्द्र के वचन सुनकर उस नारकी जीव को महान शान्ति हुई। वह गद्गद होकर हाथ

जोड़कर कहने लगा - हे तात ! आपने इस नरक में भी मुझे धर्मोपदेश रूपी अमृत-पान कराके महान उपकार किया है ! अरे, मनुष्यभव में मैं त्रिखण्डाधिपति था, और भविष्य में तीर्थंकर होने वाले महात्मा अपराजित बलदेव मेरे भाई आहार जीवन के साथी थे। उस काल जो मेरे साथ थे उनमें से अनेक जीवों ने तो मोक्ष प्राप्त कर लिया, अनेक जीव स्वर्ग में गये और मैं यहाँ नरक में पड़ा हूँ ! पुण्यफल को भोगनेवाले तो कितने ही जीव मेरे साथी थे, अब इस पापफल का भोगने में कोई मेरा सहचर नहीं है; मैं अकेला ही पाप का फल भोग रहा हूँ।

यहाँ अकेला मेरा आत्मा ही शरण है। इसप्रकार एकत्व भावना द्वारा अंतर्स्वभाव की गहराई में उतरकर उसने पुनः सम्यक्त्व ग्रहण कर लिया। इतना ही नहीं, उस समय और भी अनेक नारकी जीव शान्ति एवं सम्यक्त्व को प्राप्त हुए तथा अति उपकार बुद्धि से हाथ जोड़कर धरणेन्द्र को नमस्कार करने लगे। अपना प्रयोजन पूर्ण हुआ जानकर वे धरणेन्द्र भी अपने स्थान पर चले गये।

देखो तो सही, जीवों के परिणाम की विचित्रता ! त्रिखण्ड का राजवैभव भोगने में अपराजित और अनन्तवीर्य दोनों भाई साथ थे; तथापि एक तो विशुद्ध परिणाम के कारण स्वर्ग में गया और दूसरा संक्लेश परिणाम के कारण नरक में। नरक में भी पुनः सम्यक्त्व प्राप्त कर लिया। दो भाइयों में से एक असंख्य वर्षों तक स्वर्ग में और दूसरा असंख्य वर्ष तक नरक में, तथापि गहरी अंतर्दृष्टि से देखें तो दोनों जीव सम्यग्दृष्टि हैं, दोनों चतुर्थ गुणस्थान वर्ती हैं और सम्यक्त्व सुख दोनों का समान है। दोनों के संयोग में तथा उदयभाव में महान अंतर होने पर भी स्वभावदशा की इस समानता को भेदज्ञानी जीव ही जान सकते हैं। उदय और ज्ञान का जो भिन्न देख सकते हैं वे ही ज्ञानियों की अंतर्दशा को पहिचान सकते हैं।

अन्त में वह अनन्तवीर्य का जीव सम्यक्त्व का पालन करते हुए नरक की घोर यातना से छूटकर भरतक्षेत्र में विद्याधरों का स्वामी मेघनाथ राजा हुआ। एक बार वह मेघनाद मेरुपर्वत के नन्दनवन में विद्या साध रहा था। ठीक उसी समय अच्युतेन्द्र भी वहाँ जिनवन्दना हेतु आये; उन्होंने मेघनाथ को देखकर कहा-हे मेघनाथ ! पूर्वभव में हम दोनों भाई थे; मैं अच्युतेन्द्र हुआ हूँ और तू नरक में गया था, वहाँ से निकलकर मेघनाथ विद्याधर हुआ। विषय-भोगों की लालसा से तूने घोर नरक दुःख भोगे; उनका स्मरण करके अब सावधान हो; इन विषय-भोगों को छोड़ और संयम की आराधना कर ! तुझे सम्यग्दर्शन तो है ही, चाग्रि धर्म को अंगीकार कर ! तृष्णा की आग विषय-भोगों द्वारा शांत

नहीं होती परन्तु चारित्रजल से ही शांत होती है; इसलिये तू आज ही भोगों को तिलांजलि देकर परमेश्वरी जिनदीक्षा धारण कर। यह दीक्षा मोक्ष की जननी है, जिसकी पूजा देव भी करते हैं।

अपने भाई अच्युत इन्द्र के मुँह से चारित्रदशा की अपार महिमा तथा वैराग्य का महान उपदेश सुनकर उस मेघनाद को जाति स्मरण हुआ। तुरन्त उसका चित्त संसार से विरक्त हो गया और घर लौटने से पूर्व वहीं उसने एक मुनिराज के समीप वस्त्राभूषण एवं राजमुकुट आदि सर्व परिग्रह छोड़कर चारित्रदशा अंगीकार कर ली। 'धन्य मुनिदशा!' इस प्रकार प्रशंसापूर्वक उसे वन्दन करके अच्युतेन्द्र अपने स्वर्ग में चले गये। देखो तो सही, गुण का बहुमान! एक तीर्थकर की आत्मा ने गणधर की आत्मा को वन्दन किया।

श्री मेघनाद मुनि आत्मध्यान पूर्वक विचर रहे थे। इतने में सुकण्ठ नामके एक असुरकुमार देव ने उन पर उपसर्ग किया। धरणेन्द्र को उपसर्ग का ज्ञान होते ही उन्होंने उस उपसर्ग को टाला और असुर का भगा दिया। अन्त में वे मुनिराज शांतभाव से समाधिमरण करके सोलहवें अच्युत स्वर्ग में प्रतीन्द्र हुए। इन्द्र तो शान्तिनाथ तीर्थकर का जीव और प्रतीन्द्र चक्रायुध का गणधर का जीव-इस प्रकार दोनों भाइयों का पुनःमिलाप हुआ। अपने पूर्वभव के भाई, तथा भविष्य के भव के भी भाई की भेंट होने से उस प्रतीन्द्र को अति प्रसन्नता हुई; उसने उनका बहुत उपकार माना। वे इन्द्र और प्रतीन्द्र दोनों असंख्यात वर्षों तक चैतन्य की अखण्ड साधनापूर्वक स्वर्ग लोक में साथ ही रहे। अब मोक्ष तक के शेष पाँचों उत्तम भवों में भी साथ ही रहेंगे और आत्मसाधना में वृद्धि करते करते, तीर्थकर-गणधर होकर, मोक्षपद प्राप्त करेंगे। हम इस कथा द्वारा मोक्ष तक उनके साथ ही चलेंगे। प्रथम विदेहक्षेत्र में- जहाँ वे क्षेमंकर तीर्थकर के पुत्र होते हैं वहाँ चलें।

पाँचवाँ पूर्वभव

क्षेमंकर तीर्थकर के पुत्र वज्रायुध चक्रवर्ती

अहा, चैतन्यरस से भरपूर शांत जीवन जीने वाले हे शांतिनाथ प्रभु! तीर्थकर होने से पूर्व पाँचवें तथा तीसरे दोनों भवों में आप विदेहक्षेत्र में तीर्थकर देव के पुत्र थे। दोनों बार स्वर्गलोक की इन्द्रसभा में इन्द्र ने आपके उत्तम गुणों की प्रशंसा की थी और देव-देवी आपकी परीक्षा करने आये थे; जब जैनतत्त्वज्ञान एवं ब्रह्मचर्य में आप इतने अडिग थे कि देव भी आपको डिगा नहीं सके।

ज्ञान-वैराग्य की दृढ़ता के प्रेरक आपके जीवन की उत्तम घटनाएँ हम जैसे मुमुक्षु जीवों को भी आत्मसाधना हेतु उत्साहित करती हैं। यहाँ आपके जीवन की उन घटनाओं का आलेखन करने के मंगल-अवसर पर आपश्री को अपने हृदय में विराजमान करके नमस्कार करते हैं। अहो, आपके मंगल-जीवन का आलेखन करते हुए हमें इतनी अपार प्रसन्नता होती है मानों आप स्वयं ही हमारे हृदय में बैठे-बैठे बोल रहे हों !

अपने हृदयेश्वर भगवान शांतिनाथ और उनके गणधर वे दोनों जीव छठवें पूर्वभव में अच्युतस्वर्ग में इन्द्र और प्रतीन्द्र हुए हैं; वहाँ से निकलकर अब जिस नगरी में तीर्थकर के पुत्र-पौत्र रूप में अवतरित होने वाले हैं उस पावन नगरी में अपनी कथा प्रवेश करती है।

यह है जम्बूद्वीप के विदेहक्षेत्र में मंगलावती देश की रत्नसंचयपुर नगरी ! जहाँ के महाराजा क्षेमंकर तीर्थकर हों उस नगरी की शोभा का क्या कहना ! जैनधर्म के उपासक पुण्यवन्त जीव वहाँ निवास करते हैं और उच्च शिखरों से सुशोभित जिनमन्दिर हैं। वह 'रत्नसंचयपुरी' ब्राह्म में तो जिन मन्दिरों के शिखर पर जड़े हुए रत्नों के प्रकाश से शोभायमान है, और अंतरंग में, धर्मात्माओं के हृदय में विद्यमान सम्यग्दर्शनादि रत्नों से सुशोभित हो रही है। महाराजा क्षेमंकर महापुण्यवान हैं, धीर-वीर हैं, शुद्ध सम्यग्दृष्टि हैं, अवधिज्ञानी हैं, चरमशरीरी हैं और तीर्थकर हैं।

उन क्षेमंकर महाराजा की महारानी कनकमाला की कोख से शांतिनाथ प्रभु के जीव ने (पूर्व के अपराजित बलभद्र के जीव ने) अच्युतस्वर्ग में से अवतार लिया उसका नाम वज्रायुध ! पाठक, तुम्हें स्मरण होगा कि शांतिनाथ प्रभु ने पूर्व बारहवें भव में भी इस रत्नसंचयपुर नगरी में ही 'श्रीषेण राजा' के रूप में अवतरित होकर राज्य किया था। वाह, रत्नपुरी तो मानों तीर्थकरों की खान ! विदेहक्षेत्र के वर्तमान तीर्थकर के घर भरतक्षेत्र के भावी तीर्थकर पुत्ररूप में अवतरित हुए। वैसे तो, दो साक्षात् तीर्थकरों का मिलन नहीं होता, परन्तु एक तीर्थकर के घर में दूसरे तीर्थकर का अवतार हुआ; इसलिये एक वर्तमान और एक भावी-ऐसे दो तीर्थकर-आत्माओं का पिता-पुत्र रूप में मिलाप हुआ।

* भावी गणधर का जीव, जोकि पूर्व में अपराजित का भाई अनन्तवीर्य वासुदेव था, पश्चात् नरक में गया था और वहाँ से निकलकर मेघनाद होकर अच्युतस्वर्ग में प्रतीन्द्र हुआ था, वह वहाँ से निकलकर रत्नसंचयपुरी में वज्रायुध का पुत्र हुआ। उसका नाम है सहस्रायुध। भावी तीर्थकर और गणधर वर्तमान

में पिता-पुत्र हुए ।

* उस सहस्रायुध का एक चरमशरीरी पुत्र था जिसका नाम है कनकशान्ति ।

इस प्रकार शांतिनाथ प्रभु के जीवन में एकसाथ चार पीढ़ियों के महापुरुषों का जीवन पढ़ रहे हैं-

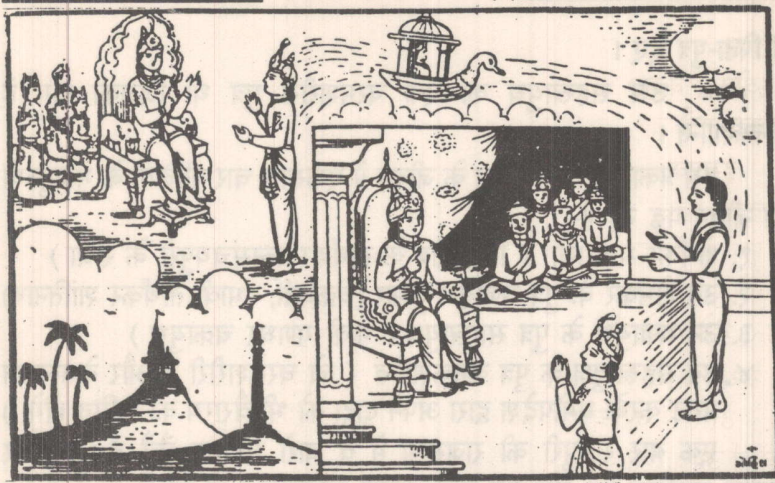
१. क्षेमंकर महाराजा (विदेहक्षेत्र के तीर्थंकर-रत्नसंचयपुरी के राजा)
२. उन क्षेमंकर के पुत्र वज्रायुध कुमार (चक्रवर्ती; भावी तीर्थंकर शांतिनाथ)
३. उन वज्रायुध के पुत्र सहस्रायुध (भावी गणधर चक्रायुध)
४. उन सहस्रायुध के पुत्र कनकशान्ति (जो चरमशरीरी हैं और केवलज्ञान प्रगट करके धर्मोपदेश द्वारा अपने दादा को भी वैराग्य का निमित्त होंगे ।)

एक बार रत्नपुरी की राजसभा में वे चारों महात्मा बैठे हैं । तीर्थंकर क्षेमंकर महाराजा पुत्र, पौत्र एवं प्रपौत्र सहित शोभायमान हो रहे हैं; इतने में उस राजसभा में एक पण्डित आया और आश्चर्यजनक घटना हुई । क्या हुआ ? वह सुनें ।

जब यहाँ रत्नपुरी में अद्भुत राजसभा भरी थी उसी समय अमरपुरी में अद्भुत इन्द्रसभा चल रही थी; उसमें इन्द्र महाराज ने वज्रायुधकुमार की प्रशंसा करते हुए कहा- "हे देवो ! मैं मध्यलोक के एक धर्मात्मा की बात कहता हूँ सो सुनो ! यह बात सुख देनेवाली तथा धर्म की महिमा में वृद्धि करने वाली है । देखो, इस समय विदेहक्षेत्र की रत्नसंचयपुरी नगरी में तीर्थंकर भगवान श्री क्षेमंकर महाराज की राजसभा में उनके पुत्र वज्रायुधकुमार बैठे हैं, वे भी भरतक्षेत्र के भावी तीर्थंकर हैं, महाबुद्धिमान हैं, अवधिज्ञानी हैं, गुणों के सागर हैं, तत्त्वों के ज्ञाता हैं, धर्मात्मा हैं, सम्यग्दर्शन के निःशंकतादि गुणों से शोभित हैं और जिनप्रणित तत्त्वार्थश्रद्धान में अडिग हैं ।" ऐसे अनेक प्रकार से इन्द्र ने वज्रायुधकुमार की स्तुति की ।

इन्द्रसभा में वज्रायुधकुमार की ऐसी प्रशंसा सुनकर 'विचित्र शूल' नाम का एक देव परीक्षा करने के लिये रत्नपुरी में आया और एकान्तवादी पण्डित का रूप धारण करके वज्रायुधकुमार से पूछने लगा- हे कुमार ! आप जीवादि पदार्थों का विचार करने में चतुर हैं तथा अनेकान्त रूप जैनमत के अनुयायी हैं; परन्तु वस्तु या तो एकान्त क्षणिक होती है अथवा एकान्त नित्य होती है ! तो फिर यह बतलाइये कि जीव सर्वथा क्षणिक है ? अथवा सर्वथा नित्य है ?

उत्तर में वज्रायुधकुमार अनेकान्त स्वभाव का आश्रय लेकर अमृतसमान



मधुर एवं श्रेष्ठ वचनों द्वारा कहने लगे- हे विद्वान् ! मैं जीवादि पदार्थों का स्वरूप पक्षपात रहित कहता हूँ; तुम अपने मन को स्थिर रखकर सुनो ! जब तक तुमने अनेकान्तमय जैनधर्म का अमृत नहीं पिया तभी तक तुम्हारी वाणी में एकान्तवाद रूप मिथ्यात्व का विष आता है। अनेकान्त के अमृत का स्वाद लेते ही तुम्हारा मिथ्यात्वरूपी विष उतर जायेगा और तुम्हें तृप्ति होगी। सुनो ! जिन भगवान् के अमृतसमान वचनों में ऐसा कहा है कि जीवादि कोई पदार्थ सर्वथा क्षणिक नहीं हैं, और न सर्वथा नित्य हैं, क्योंकि यदि उसे सर्वथा क्षणिक माना जाय तो पुण्य-पाप का फल या बंध-मोक्ष आदि कुछ नहीं बन सकते। ज्ञान-चारित्र्यादि का अनुष्ठान या तपादि भी निष्फल जायेंगे, क्योंकि जीव क्षणिक होगा तो उन सबका फल कौन भोगेगा ? तथा गुरु द्वारा शिष्य को ज्ञानप्राप्ति या पूर्वजन्म के संस्कार भी नहीं रहेंगे; और प्रत्यभिज्ञान, जातिस्मरण ज्ञान आदि का भी लोप हो जायेगा। इसलिये जीव को सर्वथा क्षणिकपना नहीं है। और यदि जीव को सर्वथा नित्य माना जाय तो बंध-मोक्ष नहीं बन सकेंगे, अज्ञान दूर करके ज्ञान करना या क्रोधादि की हानि या ज्ञानादि की वृद्धि नहीं बन सकेगी, पुनर्जन्म भी नहीं बन सकेगा; गति का परिवर्तन भी किस प्रकार होगा ? इसलिये जीव सर्वथा नित्य भी नहीं है।

एक ही जीव एक साथ नित्य तथा अनित्य ऐसे अनेक स्वरूप हैं, आत्मा द्रव्य से नित्य है, पर्याय से पलटता है, उसे अनेकान्त कहते हैं। इसीप्रकार जीवादि तत्वों में जो अपने गुण-पर्याय हैं उनसे वह सर्वथा अभिन्न नहीं है, तथा एकान्त से भिन्न नहीं है; अनेकान्त स्वरूप द्वारा ही सत्य की सिद्धि है। अनेकान्त

अमृत स्वरूप है; इसलिये बुद्धिमानों को परीक्षापूर्वक अनेकान्त स्वरूप जैनधर्म को स्वीकार करना चाहिये; क्योंकि वही सत्य है। एकान्त नित्यपना या एकान्त क्षणिकपना है वह सत्य नहीं है।

इसप्रकार वज्रायुधकुमार ने वज्रसमान वचनों द्वारा एकान्तवाद के तर्कों को खण्ड-खण्ड कर दिया। विद्वान पंडित के वेश में आया हुआ वह देव भी वज्रायुध की विद्वता से मुग्ध होगया। मन में प्रसन्न होकर अभी विशेष परीक्षा के लिये उसने पूछा—हे कुमार ! आपके वचन बुद्धिमत्तापूर्ण तथा विद्वानों को आनन्द देने वाले हैं। अब, यह समझायें कि—

क्या जीव, कर्मादि का कर्ता है ? या सर्वथा अकर्ता है ?

उत्तर में वज्रायुध ने कहा— जीव को घट-पट-शरीर-कर्म आदि परद्रव्य का कर्ता उपचार से कहा जाता है, वास्तव में जीव उनका कर्ता नहीं हैं। अशुद्धनय से जीवन अपने क्रोध-रागादि भावों का कर्ता है, परन्तु वह कर्तापना छोड़ने योग्य है, शुद्धनय से जीव उन क्रोधादिका कर्ता नहीं हैं ! वह अपने सम्यक्त्वादि शुद्ध चेतनभावों का वास्तव में कर्ता है; वह उसका स्वभाव है। इसप्रकार जीव को कर्तापना तथा अकर्तापना समझना।

विद्वान ने फिर पूछा— क्या जीव कर्म के फल का भोक्ता है ? या नहीं ?

विदेह के वर्तमान तीर्थकर की सभा में बैठे हुए भारत के भावी तीर्थकर ने उत्तर दिया कि — 'अशुद्धनय से जीव अपने किये हुए कर्मों का फल भोगता है; शुद्धनय से वह कर्मफल का भोक्ता नहीं है; अपने स्वभाविक सुख का भोक्ता है।'

देव— जो जीव कर्म करता है वही उसके फल का भोक्ता है ? या कोई दूसरा ?

वज्रायुध— एक पर्याय में जीव शुभाशुभ कर्म को करता है और दूसरी पर्याय में अथवा दूसरे जन्म में उसके फल को भोगता है; इसलिये पर्याय-अपेक्षा से देखने पर जो करता वही नहीं भोगता; और द्रव्य-अपेक्षा से देखने पर जिस जीव ने कर्म किये वही जीव उनके फल को भोगता है; एक जीव के सुख-दुःख को दूसरा नहीं भोगता।

देव ने फिर पूछा — जीव सर्वव्यापी महान है ? या तिल्ली के दाने जितना सूक्ष्म है ?

वज्रायुधकुमार ने कहा — निश्चय से प्रत्येक जीव सदा असंख्य प्रदेशी है। केवली समुद्घात के समय वह सम्पूर्ण लोक में सर्वव्यापी हो जाता है -जो मात्र एक समय ही रहता है। उसके अतिरिक्त समय में छोटा-बड़ा जैसा शरीर हो वैसे आकारवाला होता है। उसका कारण यह है कि दीपक के प्रकाश की भाँति जीव में संकोच-विस्तार होने की शक्ति है, इसलिये वह शरीर के आकार जैसा हो जाता है। मुक्तदशा में विद्यमान शरीर रहित जीव भी सर्वथा निराकार नहीं है तथा सर्वव्यापी नहीं है, परन्तु लगभग अन्तिम शरीर-प्रमाण चैतन्य आकारवाला होता है।

अन्त में उस परीक्षा करने आये देव ने पूछा— हे कुँवर जी ! यह बतलायें कि— क्या जीव स्वयं ज्ञान से जानता है? या इन्द्रियों से?

वज्रायुधकुमार ने कहा — हे वत्स ! जीव स्वयं ज्ञानस्वरूप है इसलिये वह स्वयं जानता है। इन्द्रियाँ कहीं जीवस्वरूप नहीं हैं; शरीर और इन्द्रियाँ तो अचेतन-जड हैं; उनसे जीव भिन्न है। अरिहंत एवं सिद्ध भगवन्त तो इन्द्रियों के बिना ही सबको जानते हैं; स्वानुभवी धर्मात्मा भी इन्द्रियों के अवलम्बन बिना ही आत्मा को अनुभवते हैं। इसप्रकार आत्मा अतीन्द्रिय ज्ञानस्वरूप है।

इस प्रकार आत्मा का स्वरूप भी भलीप्रकार समझाकर अन्त में वज्रायुधकुमार ने कहा— जीव का नित्यपना-क्षणिकपना, बंध-मोक्ष, कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि सब अनेकान्त-नयों से है। सिद्ध होता है, एकान्तनयसे वह कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। इसलिये हे भव्य जीव ! तुम अनेकान्तमय जैनधर्मानुसार सम्यक् श्रद्धा करके आत्मा का कल्याण करो।

इसप्रकार पण्डित वेश में आये हुए उस देव ने जो भी प्रश्न पूछे, उन सबका समाधान वज्रायुधकुमार ने बड़ी गंभीरता और दृढ़ता से अनेकान्तानुसार किया। भारत के भावी तीर्थंकर के श्रीमुख से ऐसी सुन्दर धर्म चर्चा सुनकर विदेह के समस्त सभाजन प्रति प्रसन्न हुए। उनके अमृतभरे वचन सुनकर तथा उनके तत्त्वार्थ श्रद्धान की दृढ़ता देखकर वह मिथ्यादृष्टि देव भी जैन धर्म का स्वरूप समझकर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुआ और उसे इतना सन्तोष एवं प्रसन्नता हुई-मानों मोक्षपद मिल गया हो।

पश्चात्, तुरन्त ही उस देव ने अपना मूल स्वरूप प्रगट किया और स्वर्ग में इन्द्र द्वारा की गई उनकी प्रशंसा कह सुनाई। हे प्रभो ! मुझे क्षमा करो, मैंने

आपके तत्वज्ञान में शंका करके आपकी परीक्षा की। आपके प्रताप से मुझे जैनधर्म की श्रद्धा हुई और मैंने सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया, इसलिये आपका मुझपर महान उपकार है। आपका तत्वज्ञान उज्ज्वल है और आप भावी तीर्थंकर हो इसप्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की स्तुति करके महान भक्ति-सहित उसने स्वर्ग के वस्त्राभूषण भेंट देकर वज्रायुधकुमार का बहुमान किया।

अहा ! जगत में वे धर्मात्मा जीव धन्य हैं जो कि सम्यक्त्वादि निर्मल रत्नों से विभूषित हैं, इन्द्र भी जिनकी प्रशंसा करते हों और देव आकर परीक्षा करें तथापि तत्वश्रद्धान से जो किंचित् भी चलायमान नहीं होते-ऐसे धर्मात्माओं के सम्यग्दर्शनादि गुण देखकर मुमुक्षुका हृदय उनके प्रति प्रमाद से उल्लसित होता है। भावी शांतिनाथ ऐसे श्री वज्रायुधकुमार का निर्मल तत्वज्ञान जिज्ञासु जीवों को अनुकरणीय है।

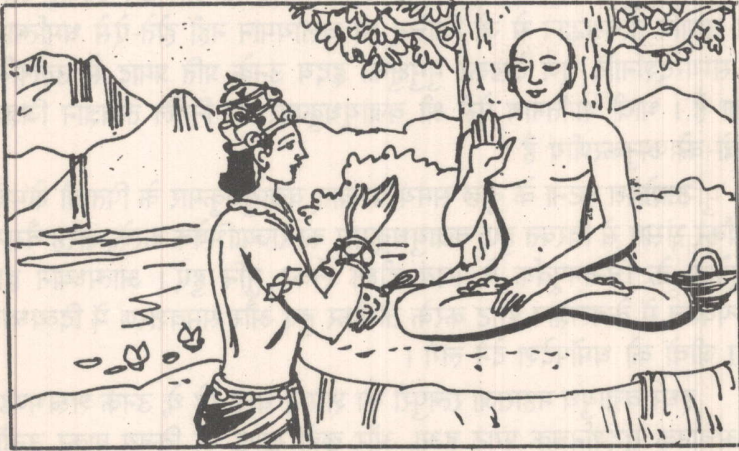
उपरोक्त घटना के कुछ समय पश्चात् वज्रायुधकुमार के पिताश्री क्षेमंकर तीर्थंकर संसार से विरक्त हुए; वज्रायुधकुमार का राज्याभिषेक करके, बारह वैराग्य अनुप्रेक्षा के चिन्तनपूर्वक वे स्वयं दीक्षा लेकर मुनि हुए। आत्मध्यान द्वारा अल्पकाल में केवलज्ञान प्रगट करके तीर्थंकर हुए और समवशरण में दिव्यध्वनि द्वारा जीवों को धर्मोपदेश देने लगे।

इधर वज्रायुध महाराजा रत्नपुरी का शासन चला रहे थे; उनके शस्त्रभण्डार में अचानक सुदर्शनचक्र प्रगट हुआ, और छहों खण्ड पर विजय पाकर उन्होंने चक्रवर्ती पद प्राप्त किया पिताजी धर्मचक्र की तो पुत्र राजचक्री हुए। धर्म और पुण्य दोनों का कैसा उत्तम सुयोग ! तथापि धर्मों के लिये एक सरस है तो दूसरा नीरस !

अब उन वज्रायुध चक्रवर्ती का पौत्र (क्षेमंकर तीर्थंकर का प्रपौत्र) कनकशांति जो कि चरमशरीरी है, वह एक बार परिवार सहित वनविहार करने गया। जिस प्रकार मिट्टी खोदते हुए रत्नभण्डार प्राप्त हो जाय, तदनुसार उसे वन में रत्नत्रयवन्त मुनिराज के दर्शन हुए। उन मुनिराज के निकट धर्मोपदेश सुनकर वह कनककुमार वैराग्य को प्राप्त हुआ और दीक्षा ग्रहण करने की तैयारी करने लगा। तब उसे दादा वज्रायुध ने तथा सहस्त्रायुध ने कहा — बेटा अभी तुम्हारी आयु छोटी है; अभी तुम राजभोग भोगो; फिर जब हम दीक्षा लेंगे तब तुम भी हमारे साथ दीक्षा ग्रहण कर लेना।

परन्तु वैरागी कनककुमार ने कहा हे— दादाजी ! हे पिताजी ! जीवन का

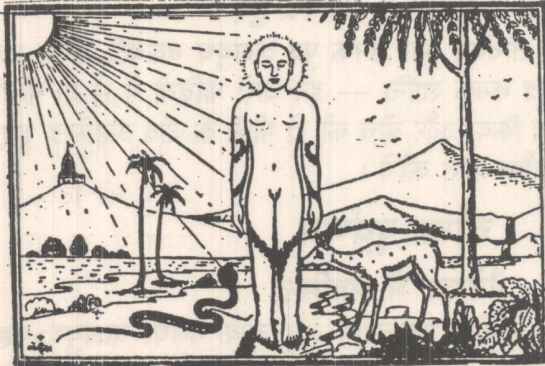
क्या भरोसा ? और मनुष्य भव के यह दुर्लभ दिन विषय-भोगों में गँवा देना मुमुक्षुको शोभा नहीं देता । मुमुक्षु को यमराज का विश्वास किये बिना, बचपन से ही धर्म साधना कर्तव्य है; इसलिये मैं तो आज ही दीक्षा लूँगा । ऐसा कहकर कनकशान्ति ने वन में जाकर जिनदीक्षा ले ली । वे कनक मुनिराज विद्याधर के अनेक उपसर्गों में भी आत्मध्यान में अडोल रहकर अल्पकाल में केवलज्ञान को प्राप्त हुए ।



अपने पौत्र को केवलज्ञान होने के समाचार सुनते ही अति आनन्दित होकर वहाँ स्तुतिपूर्वक प्रार्थना की । हे जिनराज ! सांसारिक कषायों से डरकर मैं आपकी शरण में आया हूँ; मुझे धर्मोपदेश सुनाने की कृपा कीजिये । अनेक देव और विद्याधर भी केवलज्ञान उत्सव में आये थे । प्रभु की दिव्य महिमा देखकर वह उपसर्ग करनेवाला विद्याधर भी उनकी शरण में आ गया और वैरभाव छोड़कर धर्म की प्राप्ति की । श्रीकनक केवली ने दिव्यध्वनि में कहा— 'संसार अनादि अनन्त है, अज्ञानी जीव उसका पार नहीं पा सकते; परन्तु भव्यजीव आत्मज्ञान द्वारा अनादि संसार का भी अंत कर देते हैं । जो रत्नत्रयरूपी धर्मनौका में नहीं बैठते वे अनंतबार संसार-समुद्र में डूबते और उतराते हैं; परन्तु जो आत्मज्ञान करके एक बार धर्म नौका में बैठ जाते हैं वे भवसमुद्र को पार करके

मोक्षपुरी में पहुँच जाते हैं। इसलिये मोक्षार्थी जीव को भव समुद्र से पार होने के लिये अवश्य धर्म का सेवन करना चाहिये। धर्म ही माता-पिता के समान हितकारी है, वही जन्म-मरण के दुःखों से उबारकर जीवों को उत्तम मोक्ष सुखों में स्थापित करता है।' अहा, पौत्र तो केवली बनकर उपदेश दे रहा है और दादा-जोकि स्वयं भावी तीर्थकर हैं वे भक्तिपूर्वक उपदेश सुनते हैं। इसप्रकार केवली भगवान का उपदेश सुनकर धर्मात्मा वज्रायुधचक्रवर्ती का चित्त संसार के विषय-भोगों से विरक्त होगया। अरे, देखो तो सही, जिनके पिता तीर्थकर, जो स्वयं भावी तीर्थकर, वे इस समय अपने पौत्र के उपदेश से वैराग्य प्राप्त करते हैं। वैराग्य पाकर वे वज्रायुध महाराज विचार करने लगे। अरे, इस संसार में विषय-भोगों की प्रीति प्रबल है; आत्म ज्ञानी को भी उसका अनुराग छोड़कर मुनिदशा धारण करना दुर्लभ है। आश्चर्य है कि जो कनक शान्ति मेरा पौत्र था उसने तो केवल अपने आत्मबल से बचपन में ही केवलज्ञान सम्पदा प्राप्त कर ली और परमात्मा बन गये। धन्य है उन्हें !

वैरागी वज्रायुध महाराजा ने राजभवन में आकर रत्नपुरी के राज्य का भार अपने पुत्र सहस्रायुध को सौंप दिया और अपने पिताश्री क्षेमंकर तीर्थकर के समवशरण में जाकर जिनदीक्षा धारण की। वैराग्य पौत्र के उपदेश से प्राप्त



किया था, और दीक्षा पिता के निकट ली। छह खण्ड का चक्रवर्ती वैभव छोड़कर दीक्षा पश्चात् श्री वज्रायुध मुनिराज सिद्धाचल पर्वत पर एक वर्ष का

प्रतिमायोग धारण कर अचल मुद्रा में स्थित हुए। बाहुबली भगवान की भाँति उन्होंने भी एक वर्ष तक अडोलरूप से ऐसा ध्यान तप किया कि लताएँ कण्ठ

तक लिपट गई। सिंह, सर्प, हिरन, खरगोश आदि प्राणी उनके चरणों में आकर शान्तिपूर्वक रहने लगे। उनकी शांत ध्यान मुद्रा से प्रभावित होकर हिंसक पशु भी शांत हो जाते थे। पूर्व के वैरी असुर देव ने उन्हें ध्यान से डिगाने के लिए घोर उपसर्ग किया, तथापि वज्र मुनिराज तो ध्यान में वज्रसमान स्थिर रहे; उनका चित्त चलायमान नहीं हुआ। अंत में भक्त-देवियों ने स्तुति करके उनसे क्षमायाचना की। मुनिराज वज्रायुध अनेक वर्षों तक रत्नत्रय की आराधना सहित विदेहक्षेत्र में विचरे।

इधर, व्रजायुध महाराज के पुत्र सहस्रायुध ने कुछ काल तक रत्नपुरी का राज्य किया, फिर उनका चित्त भी संसार से विरक्त हुआ। वे विचारने लगे- मेरे दादाजी तो तीर्थंकर हैं, पिताजी भी चक्रवर्ती की सम्पदा छोड़कर, मुनि बनकर मोक्ष की साधना कर रहे हैं, मेरा पुत्र भी दीक्षा लेकर केवलज्ञानी हो गया, और मैं अभी तक विषय-भोगों में पड़ा हूँ! अरे, यह दुःखदायक एवं पापदायक विषय-भोग मुझे शोभा नहीं देते! इनमें कहीं शान्ति नहीं है; मैं तो मोक्ष की साधना हेतु आज ही मुनिदीक्षा लूँगा। ऐसे निश्चयपूर्वक जिनदीक्षा लेकर वे भी वज्रायुध मुनिराज के साथ विचरने लगे। पिता-पुत्र भावी तीर्थंकर-गणधर दोनों मुनिराजों ने अनेक वर्षों तक साथ-साथ विहार किया। अन्त में विदेहक्षेत्र के वैभार पर्वत पर उन दोनों मुनिवरों ने रत्नत्रय की अखण्ड आराधनापूर्वक समाधिमरण किया और उर्ध्व ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुए।

इसप्रकार क्षेमंकर तीर्थंकर और उनके पुत्र वज्रायुध चक्रवर्ती, उनके पुत्र सहस्रायुध और उनके पुत्र कनक शान्ति — इन चारों पीढ़ियों में से दो पीढ़ी के जीवों ने तो मोक्ष प्राप्त किया, और बीच की दो पीढ़ी के जीव अहमिन्द्र हुए; वे तीन भव के पश्चात् मोक्ष प्राप्त करेंगे।

चौथा पूर्वभव

ग्रैवेयक में अहमिन्द्र

अपने चरित्रनायक तीर्थंकर शान्तिनाथ और उनके गणधर चक्रायुध;—यह दोनों चौथे पूर्वभव में ग्रैवेयक में अहमिन्द्र देव हुए हैं। ग्रैवेयक के देवों के देवियाँ नहीं होतीं, तथापि पहले सोलहवें स्वर्ग में इन्द्र पद के समय इन्द्रानियों के बीच या चक्रवर्ती पद के समय ९६००० सुन्दर रानियों के संग में उन्हें जो

पुण्यजन्य सुख था, उसकी अपेक्षा अत्यधिक सुख यहाँ इन्द्रानियों के बिना ही उन्हें था। यही सिद्ध करता है कि सुख विषयों के भोगोपभोग में नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य है कि पूर्वकाल में मुनिदशा में उनको जो महान वीतरागी सुख था उतना सुख इस अहमिन्द्र पद में नहीं था, क्योंकि सच्चा सुख तो वीतरागता ही है। राग के फल में सच्चा सुख कैसे होगा ? नहीं हो सकता। यह बात वे अहमिन्द्र भलीभाँति जानते थे।

इसप्रकार स्वर्गलोक की असंख्य वर्ष की आयु पूर्ण करके वे दोनों महात्मा मनुष्य लोक में अवतरित होने को तैयार हुए।

तीसरा पूर्वभव

विदेह में घनरथ तीर्थकर के पुत्र : मेघरथ और दृढरथ

इस जम्बूद्वीप के विदेह क्षेत्र में पुष्कलावती देश और उसमें पुण्डरीकिणी नगरी है। वह विद्यमान सीमंधर भगवान आदि कितने ही तीर्थकरों की जन्मनगरी है। वहाँ मोक्ष जाने के द्वार सदा खुले हुए हैं; इसलिये स्वर्ग के देवों को भी वहाँ अवतरित होने की इच्छा होती है। महाराजा घनरथ उस नगरी के राजा थे। नगरी अति सुन्दर थी और उसके राजा उससे भी अधिक सौन्दर्यवान थे, क्योंकि वे एक तीर्थकर थे। अहमिन्द्र हुए अपने दोनों चरित्रनायक वहाँ से चलकर घनरथ तीर्थकर के पुत्र हुए। भगवान शान्तिनाथ का जीव मेघरथकुमार और गणधर चक्रायुध का जीव दृढरथ कुमार हुआ। वे मेघरथ और दृढरथ दोनों भाई आत्मज्ञानी, शांत परिणामी, विद्वान तथा मनोहर रूपवान थे। भवों भव के तथा मोक्ष तक के साथी होने से दोनों को एक दूसरे के प्रति परमस्नेह था। दोनों साथ खेलते, साथ खाते; परस्पर धर्मचर्चा करते और भगवान के समवशरण में या दरबार में भी साथ ही जाते। उनकी चेष्टाएँ सबको आनन्द प्राप्त कराती थीं।

दो कुक्कुटों के उद्धार का प्रसंग

एक बार महाराज घनरथ तीर्थकर राजसभा में सपरिवार बैठे थे। युवराज मेघरथ कुमार भी दरबार में उपस्थित थे और धर्म की महिमा के सम्बन्ध में अद्भुत चर्चा चल रही थी। अहा, जिस सभा में वर्तमान एवं भावी तीर्थकर एक साथ विराज रहे हों उस राजसभा में राज्यचर्चा के बदले धर्मचर्चा चले उसमें आश्चर्य ही क्या ? परन्तु अचानक ही उस चर्चा में भंग पड़ा और एक अन्य घटना हो गई। महाराजा घनरथ की दृष्टि दो लड़ते हुए कुक्कुटों पर

पड़ी; दोनों बड़े क्रोधपूर्वक एक दूसरे से लड़ रहे थे। वह युद्ध दोनों कुक्कुटों को दुःख का कारण था और उसमें रुचि लेनेवालों को भी अशुभ ध्यान का कारण था। दयालु महाराजा ने तुरन्त उन दोनों का युद्ध रोकने की भावना से मेघरथ को सम्बोध कर पूछा — हे मेघरथ ! इन दोनों कुक्कुटों को एक दूसरे के प्रति इतना वैरभाव क्यों है ?

तब अवधिज्ञानी मेघरथ कुमार ने उन दोनों कुक्कुटों के पूर्वभव जानकर कहा — सुनिये ! यह एक वैराग्य की बात है। इन दोनों का वैराग्य पूर्वभव से चला आ रहा है। यह दोनों कुक्कुट पूर्वभव में सगे भाई थे, परन्तु एक बैल के स्वामित्व को लेकर दोनों में लड़ाई हुई और दोनों ने एक दूसरे को मार डाला। फिर दोनों जंगली हाथी हुए, वहाँ भी लड़कर मरे। फिर दोनों भैंसा हुए, वहाँ भी परस्पर लड़ मरे; पश्चात् दोनों मेढ्रा हुए और इसी प्रकार मरे। अब वे दोनों भाई इस भव में कुक्कुट होकर लड़ रहे हैं। अरे, एकबार के दो सगे भाई क्रोधवश संसार में भटकते हुए कितनी बार परस्पर लड़ मरे ! कषाय के संस्कार जीव को कितना दुःख देते हैं ! कषाय से छूटे तभी जीव को शान्ति मिलेगी।

मेघरथ की वाणी इतनी शांत एवं मधुर थी की क्षणभर वे दोनों कुक्कुट भी युद्ध करना भूलकर उसे सुनने में लीन हुए। कुक्कुटों के पूर्वभव की कथा सुनकर सभाजन आश्चर्य से वैराग्य को प्राप्त हुए और मेघरथ के दिव्यज्ञान की प्रशंसा करने लगे। दोनों कुक्कुट भी अपने पूर्वभवों की बात सुनकर एकदम शांत हो गये और लड़ाई रोककर दोनों विचार में पड़ गये। 'अरे यह तो मेरा भाई !' उस समय उन दोनों को अपने पूर्वभव का जातिस्मरण ज्ञान हुआ; उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगी; वैरभाव दूर हो गया और घनरथ तथा मेघरथ की और भक्ति भाव से देखने लगे। मेघरथ ने वैराग्यमय सम्बोधन किया — हे भद्र ! अब तू हिंसकभाव छोड़ो अहिंसामय जिनधर्म की शरण लो, ताकि ऐसे दुःखमय जन्मों से तुम्हारा छुटकारा हो। दोनों ने हिंसक भाव छोड़कर जैनधर्म को स्वीकार किया और अहिंसक भाव पूर्वक शरीर का त्याग किया।

वे दोनों कुक्कुट मरकर व्यंतर देव हुए। देव होकर उन्होंने अपने उपकारी मेघरथकुमार की कैसी भक्ति की वह अब आगे पढ़ेंगे। उससे पूर्व एक अन्य आश्चर्यजनक घटना राजसभा में हुई, वह पढ़िये।

उन दो कुक्कुटों की कथा सुनाने के पश्चात् मेघरथ ने दिव्य ज्ञान से जानकर सभाजनों से कहा कि इस समय इस राजसभा में दो विद्याधर भी आये

हुए हैं और गुप्तरूप से कुक्कुटों के भव की बात सुन रहे हैं।

सभाजनों ने आश्चर्य से पूछा— अरे, कौन हैं वे दो विद्याधर ? और यहाँ किस लिये आये हैं ?

मेघरथ ने कहाँ — सुनो यह आनन्द की बात है। यहाँ आये हुए दोनों विद्याधर चरमशरीरी हैं और महाराजा घनरथ के साथ उनका पूर्वभव का सम्बन्ध है। [मेघरथ कुमार अपने पिता तीर्थकर के पूर्वभव की बात करते हैं और घनरथ तीर्थकर स्वयं अपने पुत्र के मुहँ से अपने पूर्वभव की सुन रहे हैं। एक वर्तमान तीर्थकर के पूर्वभव की बात भावी तीर्थकर कह रहे हैं] पूर्वभव में यह बात पिताश्री-घनरथ महाराज ऐरावत क्षेत्र में 'अभय घोष' राजा थे, तब यह दोनों विद्याधर उनके पुत्र थे। एक बार वे तीनों जीव संसार से विरक्त होकर मुनि हो गये और अभयघोष मुनिराज ने तीर्थकर नामकर्म बाँधा। वहाँ से समाधि मरण करके तीनों जीव सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हुए। वहाँ से चलकर मेरुपर्वत पर जिनालयों के दर्शन हेतु गये थे। वहाँ अवधिज्ञानी मुनिराज के पास अपने पूर्वभव की बात सुनी और जाना की हमारे पूर्वभव के पिता घनरथ तीर्थकर रूप से अवतरित हुए हैं और इस समय पुण्ड्रगिरि नगरी के राजसभा में विराज रहे हैं; इसलिये ये दोनों विद्याधर अति स्नेहवश अपने पूर्वभव के पिता और वर्तमान तीर्थकर देव के दर्शन करने यहाँ आये हैं।

मेघरथ की बात पूर्ण होते ही दोनों विद्याधर प्रसन्नता से प्रगट हो गये और अत्यन्त आदर सहित अपने पूर्वभव के पिताश्री घनरथ तीर्थकर के दर्शन किये। 'अहा, हमारे पिता तीर्थकर !' ऐसा जानकर उनका हृदय आनन्दित हुआ। पुनः पुनः घनरथ तथा मेघरथ दोनों 'द्रव्य तीर्थकरो' की स्तुति की, सम्मान किया और प्रसन्नता से कहने लगे-अहो, अपने पूर्वभव के पिताश्री को तीर्थकर के रूप में देखकर हमें महान हर्ष हो रहा है। हे देव ! आप त्रिलोक पूज्य हो, मोक्षमार्ग के प्रदर्शक हो ! प्रभो ! हम भी आपके परिवार के हैं। जिसप्रकार इस भव में मेघरथ और दृढ़रथ आपके पुत्र हैं उसीप्रकार हम भी आपके पूर्वभव के पुत्र ही हैं। आप विदेह के तीर्थकर हैं और भाई मेघरथ भरत क्षेत्र के भावी तीर्थकर हैं। आप दोनों को देखकर हमें अपार आनन्द हो रहा है। इसप्रकार वे विद्याधर अति आनन्दित हुए और उन्हें अपने पूर्वभवों का जातिस्मरण ज्ञान हुआ; इसलिये संसार से विरक्त होकर उन्होंने जिनदीक्षा ग्रहण की और केवलज्ञान प्रगट करके मोक्षपद को प्राप्त हुए।

ढाई द्वीप की यात्रा

अब, ज्यों ही विद्याधर विदा हुए की तुरन्त ही अचानक दो देव दिव्य विमान लेकर वहाँ आये और मेघरथकुमार को दिव्य वस्त्राभूषणों की भेंट देकर कहने लगे हे देव ! पूर्वभव में हम दोनों कुक्कुट थे और अब देव हुए हैं । हम तो निर्दय, हिंसक, मांसभक्षी प्राणी थे । जैनधर्म के उपदेश द्वारा आपने हमारा उद्धार किया है । आप हमारे महान उपकारी हैं और भावी तीर्थकर हैं । हमारे पूर्वभव बतलाकर आपने हमारा वैरभाव मिटाया और जैनधर्म की प्राप्ति करायी; जिससे हम देव हुए, और आपके उपकार का स्मरण करके हम आपकी सेवा करने आये हैं । आप हमारे देव विमान में विराजो, हम आपको ढाई द्वीप की यात्रा करायेंगे । हमारे विमान में बैठकर आप मनुष्य क्षेत्र के पाँच मेरु तथा अन्य रमणीय तीर्थों के दर्शन करो । मनुष्य जहाँ तक जा सकते हैं उस मानुषोत्तर पर्वत तक के समस्त क्षेत्र हम आपको बतलायेंगे ।

मेघरथ कुमार ने देवों की बात स्वीकार कर ली, और देवों ने उन्हें सपरिवार उस सुशोभित देवविमान में बिठाया । विमान को आकाश में उड़ाते हुए वे देव एक के बाद एक क्षेत्र बताने लगे । यद्यपि अवधिज्ञान द्वारा उन क्षेत्रों को जान लेने की शक्ति उनमें थी, तथापि परिवार सहित विमान में विहार करते हुए वे वह सब देख रहे थे । देव ने कहा— हे स्वामी ! यह जम्बूद्वीप के बीच में अपना विदेहक्षेत्र है और इसके मध्य भाग में यह सुन्दर सुदर्शन मेरुपर्वत है । जम्बूद्वीप के भरत, ऐरावत एवं विदेह क्षेत्र के सर्व तीर्थकरों का जन्माभिषेक इस मेरुपर्वत पर होता है । आपके पिताश्री महाराजा घनरथ तीर्थकर का जन्माभिषेक भी यहीं हुआ था और आप स्वयं अब तीसरे भव में भरत क्षेत्र में शांतिनाथ तीर्थकर के रूप में अवतरित होंगे, तब आपका भी जन्माभिषेक इसी मेरुपर्वत पर होगा । इस मेरु की उत्तर दिशा में रम्यक्, हैरण्यवत तथा ऐरावत यह तीन क्षेत्र हैं, और दक्षिण में हरिवर्ष, हमेवत एवं भरत यह तीन क्षेत्र हैं । जम्बूद्वीप के यह सात क्षेत्र-विभाग करने वाले छह महापर्वत हैं—हिमवान, महाहिमवान, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी । उनके बीच महा सुदर्शन मेरु है; उस पर शाश्वत जिनमन्दिर हैं ।

सबने विमान से उतरकर जिनबिम्बों के दर्शन किये । अद्भुत शांत-वीतरागी जिनबिम्बों के दर्शन से सबको अति प्रसन्नता हुई; मेघरथ कुमार ने तो क्षणभर आत्मध्यान करके शांतरस का पान कर लिया ।

फिर विमान में बैठकर आगे बढ़े। देवों ने पुनः भरतक्षेत्र पर चक्कर लगाकर बतलाया कि। हे स्वामी ! देखिये, यह अयोध्यापुरी दिख रही है यहाँ ऋषभदेव आदि अनन्त तीर्थकरों ने जन्म लिया है; उसके बाजू में वह हस्तिनापुरी है। भगवान ऋषभदेव मुनिराज को इसी नगरी में राजा श्रेयांस ने सर्वप्रथम एक वर्ष तक तप करने के पश्चात् पहली बार इक्षुरस का आहार कराया था; और आप मेघरथ कुमार भी तीसरे भव में इसी नगरी में तीर्थकर के रूप से अवतरित होंगे। उधर जो ऊँचा रमणीय पर्वत दिखायी देता है वह शाश्वत तीर्थ सम्मैद शिखर है; वहाँ से अनन्त जीवों ने मोक्ष प्राप्त किया है; आप भी वहीं से मुक्ति प्राप्त करेंगे।

इसप्रकार भरतक्षेत्र दिखाकर उनका विमान लवणसमुद्र पार करके दूसरे धातकी खण्ड द्वीप में पहुँचा। वहाँ विराजमान स्वयंप्रभ आदि आठ तीर्थकर भगवन्तों के दर्शन करके फिर तीसरे पुष्कर द्वीप में आये। वहाँ भी तीर्थकर भगवन्तों के समवशरणादि के दर्शन किये। पाँचों मेरु के तथा बारम्बार तीर्थकर भगवन्तों के दर्शनों से सबको अति आनन्द होता था। अन्त में पुष्कर द्वीप के मध्य स्थित मानुषोत्तर पर्वत पर चार दिशाओं में चार शाश्वत जिनालयों के दर्शन किये। फिर विमान को विदेहक्षेत्र की ओर मोड़ते हुए उन देवों ने कहा-हे स्वामी ! यहाँ मनुष्यों के गमन की सीमा समाप्त होती है। हमने आपको भक्तिपूर्वक ढाई द्वीप के तीर्थों की तथा तीर्थकरों की यात्रा करायी-यह हमारा सद्भाग्य है। अब यहाँ से आगे मनुष्यों का गमन नहीं है।

मेघरथ और दृढरथकुमार ढाई द्वीप की यात्रा से प्रसन्न हुए और पुनः पुण्डरीकिणी नगरी में आये। दोनों देव उन्हें वन्दन करके स्वर्गलोक चले गये। अहो, सज्जन पुरुष अपने ऊपर किये गये उपकार को नहीं भूलते और उसमें भी अन्य उपकारों की अपेक्षा धर्म का उपकार तो सर्वश्रेष्ठ है।

घनरथ और मेघरथ—एक वर्तमान तीर्थकर, दूसरे भावी तीर्थकर ऐसे पिता-पुत्र ने अनेक वर्षों तक साथ रहकर पुण्डरीकिणी नगरी को सुशोभित किया। उत्तम धर्मशासन द्वारा प्रजाजनों को सुखी किया। एक बार मोक्ष की काललब्धि से प्रेरित हुए महाराजा घनरथ तीर्थकर को स्वयंबुद्धरूप से संसार से वैराग्य जागृत हुआ। उन्होंने मेघरथ को राज्य सौंपा और स्वयं वन में जाकर जिनदीक्षा धारण की। देवों ने उनका दीक्षाकल्याणाक महोत्सव किया। घनरथ मुनिराज शुक्लध्यान द्वारा केवलज्ञान प्रगट करके तीर्थकर हुए और दिव्यध्वनि द्वारा अनेक जीवों को मोक्षमार्ग बतलाते हुए विदेह क्षेत्र में विचरने लगे।

इधर महाराजा मेघरथ महान पुण्योदय से पुण्डरीकिणी नगरी के राज्य का संचालन कर रहे थे। वे शुद्ध सम्यक्दर्शन के धारी एवं अवधिज्ञानी थे व्रत एवं शील गुणों से शोभित थे पंचपरमेष्ठी के प्रति विनयवान एवं जिनवाणी के भक्त थे। दानधर्म के ज्ञाता होने से सुपात्र जीवों को आदरपूर्वक दान देते थे।

भावी तीर्थंकर वे मेघरथ महाराज एकबार अष्टान्हिका पर्व में जिनपूजा करके उपवास पूर्वक सभा में बैठे थे और जैनधर्म के उपदेश द्वारा अहिंसा धर्म का स्वरूप समझा रहे थे। इतने में एक आश्चर्यजनक घटना हुई—

अचानक वहाँ एक कबूतर आया वह भय से काँप रहा था। उसके पीछे एक भयंकर गिद्ध पड़ा था। भयभीत कबूतर ने गिद्ध से बचने के लिये महाराजा मेघरथ की शरण ली।

तुरन्त ही वह गिद्धपक्षी मनुष्य की भाषा में बोला— हे महाराज ! आप दयालु हैं, दानेश्वरी हैं, मैं बहुत भूखा हूँ और मांस ही मेरा भोजन है, इसलिये यह कबूतर मुझे दे दीजिए मैं भूख से मर जाऊंगा। आपको कबूतर की रक्षा करना ही तो उसके वजन के बराबर का मांस मुझे अपने शरीर से काटकर मुझे दीजिए।

गिद्धपक्षी को मनुष्य की भाषा बोलते देखकर सभाजनों को आश्चर्य हुआ। छोटे भाई दृढरथ ने मेघरथ से पूछा हे पूज्य बंधु ! यह गिद्धपक्षी मनुष्य की भाषा क्यों बोलता है ? इसमें क्या रहस्य है ? तब मेघरथ ने अवधिज्ञान से सब जान लिया और कहा— सुनो, मैं वह रहस्य बतलाता हूँ।

कबूतर और गिद्ध की घटना: देव द्वारा परीक्षा

यह कबूतर और गिद्ध दोनों जीव पूर्वभव में वणिक पुत्र थे और सगे भाई थे। वे अत्यन्त लोभी थे, इसलिये धन के लिये लड़े और एक दूसरे को मारकर यह कबूतर तथा गिद्ध हुए हैं। कषाय वश जीव को कैसे दुख सहना पड़ते हैं। अतः हे भद्र जीवो ! तुम कषाय छोड़ो, वैरभाव छोड़ो ! भावी तीर्थंकर के दर्शन तथा उनके मुँह से अपने पूर्वभव की बात सुनकर उन दोनों पक्षियों का चित्त शांत हुआ। वैरभाव छोड़कर वे मेघरथ की बात सुनने लगे।

राजा मेघरथ कहते हैं— आज इन्द्रसभा में इन्द्र महाराज ने मेरी प्रशंसा करते हुए कहा है— 'राजा मेघरथ भावी तीर्थंकर है, आत्मज्ञानी है, जैन सिद्धान्त में कुशल है, दानधर्म का स्वरूप जाननेवाले विवेकी हैं, महान दाता है।'— यह मेरी प्रशंसा सहन नहीं होने से एक देव द्वेषवश मेरी परीक्षा करने यहाँ आया

है। गिद्ध के शरीर में प्रवेश करके मनुष्य की भाषा में यह कबूतर माँग रहा है।

ऐसा कहकर मेघरथ ने उस देव के पूर्वभव भी बतलाये और फिर कहा- गिद्ध के शरीर में स्थित हे देव ! सुन तेरी यह माँग अनुचित है। कबूतर वह कोई भक्ष्य नहीं है और न दान देने की वस्तु है। मांसादि अभक्ष्य वस्तुओं का दान देना धर्म में निषिद्ध है। मांस भले अपने शरीर का हो तब भी वह दान देने योग्य वस्तु नहीं है; तथा गिद्ध आदि मांसभक्षी जीवदान में देने के लिये पात्र भी नहीं है। हाँ, पूर्वकाल में कबूतर के बदले अपने शरीर का मांस दान में देने वाले एक अज्ञानी राजा की कथा लोगों में प्रसिद्ध है, परन्तु वह बात धर्मसिद्धान्त में मान्य नहीं है; तथा वह राजा और वह दान प्रशंसनीय नहीं है। अरे क्या मांस का दान दिया जाता है ? नहीं वह तो पाप है, हिंसा है, अविवेक है, लेने तथा देनेवाले दोनों के लिये दुर्गति का कारण है।

तो दान का सच्चा स्वरूप क्या है ? ऐसा पूछे जाने पर महाराज मेघरथ कहते हैं— हे गिद्ध ! हे देव ! हे सभाजनों ! तुम दान का सच्चा स्वरूप सुनो !

* दान ऐसी वस्तु का देना चाहिए जो निर्दोष हो। स्व-पर देने लेने वाले दोनों को हितकारी हो, और ज्ञान तथा संयम का साधन हो।

* मांसादि अभक्ष्य वस्तुओं का दान नहीं दिया जाता। आहारदान और औषधिदान भी मधु-मांस अण्डा-शराब-मछली का तेल आदि के सम्बन्ध से रहित होना चाहिए। ऐसी अभक्ष्य वस्तुओं का स्वयं भी भक्षण नहीं किया जाता और दूसरे को दान में भी नहीं दी जाती।

* दान सदा बदले की भावना तथा आशा के बिना देना चाहिए।

* दान ऐसे सुपात्र जीवों को आदरपूर्वक देना चाहिए जो धर्म के साधक हों। रत्नत्रयवन्त मुनि, श्रावक, धर्मात्मा, साधर्मी आदि सुपात्र जीवों को आदरपूर्वक दान देना वह श्रेष्ठ दान है और ऐसा सुपात्रदान वह गृहस्थ-श्रावकों का मुख्य कार्य है।

* योग्य वस्तु का दान ऐसी विधि से देना चाहिए जो कि स्व-पर को हित का कारण हो, और जिससे मोक्षमार्ग का लाभ हो।

यदि गिद्ध को कबूतर का दान दिया जाय तो बेचारे कबूतर को कितना दुःख होगा ? तथा गिद्ध को भी उसका मांस भक्षण करने से कितना महान पाप

लगेगा। दोनों का अहित ही होगा। पुनश्च, मांस का दान देने वाले के हृदय में से दयाधर्म का नाश हो जायेगा और हिंसा का महान पाप लगेगा। इसलिये यह कबूतर या मांसादि अशुद्ध वस्तुएँ दान देने योग्य नहीं हैं। मांस की इच्छा करने वाला जीव भी दान क लिये योग्य पात्र नहीं है, और ऐसा दान करने वाला जीव दाता नहीं है। शुद्ध भावना से शुद्ध वस्तु, धार्मिक सुपात्र जीव को, निर्दोष विधि से देना ही सच्चा दान है उसका फल महान है।

इसप्रकार महाराजा मेघरथ ने युक्तिपूर्वक दान का स्वरूप समझाया। तब गिद्ध के शरीर में स्थित परीक्षा हेतु आया हुआ वह देव, उनके वीतरागी उपदेश से अति प्रभावित हुआ। उसने प्रगट होकर मेघरथ राजा की स्तुति करते हुए कहा — हे देव ! आप दान धर्म के यथार्थ ज्ञाता हैं। भगवान ऋषभदेव के समय में भरत क्षेत्र की जिस हस्तिनापुरी में दानतीर्थ का प्रवर्तन हुआ है, उसी भूमि में आप तीसरे भव के तीर्थकर होने वाले हैं। इन्द्र महाराज ने आपके गुणों की जो प्रशंसा की, उन गुणों को प्रत्यक्ष देखकर मैं धन्य हुआ ! इसप्रकार स्तुति करके वह देव अपने स्थान पर चला गया।

गिद्ध और कबूतर के जीव भी मेघरथ राजा का उपदेश सुनकर अत्यन्त प्रभावित हुए और धर्म के संस्कार सहित शरीर त्यागकर व्यन्तर देव हुए उन दोनों देवों ने आकर मेघरथ स्वामी का उपकार मानते हुए कहा— हे देव ! आपने हमें जैनधर्म का और दान का स्वरूप समझाकर महान उपकार किया है; आपकी कृपा से हम तुच्छ पशु पर्याय से छूटकर देव हुए हैं।

इसप्रकार भावी तीर्थकर ऐसे वे महात्मा, दो भव से अनेक देवों द्वारा पूजे जा रहे हैं। दोनों भव में तीर्थकर के पुत्र हुए और इन्द्र ने उनकी प्रशंसा की। देवों ने आकर परीक्षा की; परन्तु वे महात्मा तो निन्दा-प्रशंसा से परे ऐसी धर्मसाधना में अग्रसर होते ही रहे। दो बार तीर्थकर के पुत्र हुए, चक्रवर्ती भी हुए तथापि अपने चैतन्य वैभव की महत्ता से वे कभी च्युत नहीं हुए। चैतन्यरस के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं संतुष्ट नहीं हुए। इसप्रकार सर्वत्र निर्ममत्वरूप से आत्मा को मोक्षमार्ग पर चलाते-चलाते अपने चरित्रनायक अब तो भवसमुद्र किनारे आ पहुँचे हैं। अहा उन तीर्थकर का पूर्व जीवन भी अद्भुत आश्चर्यकारी एवं धन्य है; साक्षात् तीर्थकर जीवन का तो कहना ही क्या ?

महाराजा मेघरथ महान राज्य के बीच रहकर भी उत्तम श्रावकधर्म का पालन करते थे। सामायिकादि व्रतों के पालन पूर्वक वे अपनी आत्मशुद्धि में वृद्धि करते थे। उनका चित्त संयम भावना में रमण करता था। संयम धारी

मुनिवरों को देखकर वे अतिप्रसन्न होते थे। एक बार आकाशमार्ग से चारणऋद्धिधारी मुनिवर पधारने पर उन्होंने महान भक्ति पूर्वक शुद्ध आहारदान दिया और आकाश में देवों ने बाजे बजाये तथा रत्नवृष्टि हुई। अहा, जिन मुनिवरों को आहारदान देने की इतनी महिमा है, उस मुनिदशा की महिमा का तो क्या कहना !- वे महाराज रत्नवैभव में नहीं ललचाये, परन्तु मुनिदशा के रत्नत्रय प्राप्त करने का उनका मन लालायित था। अहो, मैं कब ऐसी मुनिदशा प्राप्त करूंगा !

इन्द्रसभा में प्रशंसा और देवियों द्वारा परीक्षा

आत्मसाधना में तत्पर तथा संयम की भावना में तल्लीन रहने वाले महाराज मेघरथ ने एकबार पर्वतिथि में प्रोषध उपवास किया था। दिनभर आत्मसाधना में रहकर रात्रि के समय एकान्त उद्यान में जाकर वे धर्मात्मा ध्यान में स्थित हुए। वे धीर-वीर महात्मा प्रतिज्ञापूर्वक प्रतिमायोग धारण करके एकाग्रचित्त मेरुसमान अचल होकर आत्मध्यान कर रहे थे। कभी-कभी निर्विकल्प शुद्धोपयोगी होकर मुनिसमान शोभा देते थे। इतने में एक विशेष घटना हुई जो इसप्रकार है—

ईशानस्वर्ग की इन्द्रसभा में इन्द्र ने आश्चर्यपूर्वक उनकी प्रशंसा की—“अहो, उन महात्मा को धन्य है ! वे सम्यक्त्वादि गुणों के सागर हैं, ज्ञानवान एवं विद्वान हैं, अत्यन्त धैर्यवान हैं, शीलवान हैं। इस समय वे मेरु समान अचल दशा में आत्मध्यान कर रहे हैं। आत्मचिन्तन में उनकी तत्परता देखकर आश्चर्य होता है। अहो ! उन्हें नमस्कार हो !”

इन्द्र द्वारा प्रशंसा सुनकर देवों को आश्चर्य हुआ और पूछा — हे नाथ ! इस समय आप किस सज्जन की स्तुति कर रहे हैं ? मनुष्य लोक में कौन ऐसे महात्मा हैं जिनकी प्रशंसा इस देवसभा में हो सकती है ?

तब इन्द्र ने कहा— हे देवो, सुनो !

मनुष्य लोक के विदेहक्षेत्र में इस समय राजा मेघरथ ध्यान मग्न हैं उन्हीं की प्रशंसा मैं कर रहा हूँ ! एक भव के पश्चात् वे भरतक्षेत्र में शांतिनाथ तीर्थकर होने वाले हैं, उन्होंने शरीर का भी ममत्व छोड़कर इस समय प्रतिमायोग धारण किया है और आश्चर्यकारी आत्मध्यान में स्थित हैं। उनका शीलगुण भी अद्भुत है।

इन्द्रसभा में प्रशंसा और देवियों द्वारा परीक्षा तथा स्तुति

इन्द्र की बात सुनकर दूसरे सब देव तो प्रसन्न हुए; परन्तु दो देवियाँ उनकी परीक्षा करने के लिये पृथ्वी पर आयी और उन्हें ध्यान से डिगाने के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार के हावभाव दिखलाकर उपद्रव करने लगीं। परन्तु महाराज मेघरथ तो काया और माया दोनों से परे ऐसे समता भाव में ही लीन थे। अत्यन्त धीर-वीर एवं सागर समान गंभीर वे अपने परमात्मतत्व के आनन्द में लीन थे। उनके परिणाम अत्यन्त शान्त थे; आत्मा के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उनका चित्त नहीं लगा था। अहा, मानों उपसर्ग के कारण वस्त्रों से ढँके हुए कोई निर्ग्रन्थ मुनिराज खड़े हो ! ऐसे लग रहे थे।

स्वर्ग से आयी हुई देवियों ने अनेक प्रकार के उपसर्ग प्रारम्भ किये। कायर मनुष्य का तो कलेजा काँप उठे ऐसे भयंकर दृश्य उपस्थित किये; तथा मनोहर हावभाव गीत-विलास-आलंगनादि रागवर्द्धक कामचेष्टाएँ कर-करके उन्हें ध्यान से च्युत करने के लिये अनेक उपद्रव किये, परन्तु मेघरथ तो मेरु समान



अचल ही रहे। अरे ! मोक्ष के आनन्द में जिनका मन लगा है वे भी कहीं विषयों में ललचायेंगे बाह्य में क्या-क्या

चेष्टाएँ हो रही हैं- उनके प्रति उनका लक्ष ही कहाँ है ? अन्त में, देवियाँ थक गयीं और खीझकर तिरस्कार भरे वचन बोलीं। शरीर की अनेक वीभत्स चेष्टाएँ की, परन्तु वे ध्यानी वीर आत्मध्यान से नहीं डिगे सो नहीं डिगे। दुष्ट देवियाँ उनके वैराग्य रूपी कवच को नहीं भेद सकी। जो उपयोग को निज परमात्मा में एकाकार करके जो बैठे हैं उन्हें बाह्य उपद्रव क्या कर सकेंगे ? परमात्मतत्व में उनका प्रवेश ही कहाँ है ? जिस प्रकार बिजली की तीव्र गडगडाहट भी मेरुपर्वत को हिला नहीं सकती उसी प्रकार देवियों की रागचेष्टा उन महात्मा के

मन-मेरु को किंचित भी डिगा नहीं सकीं। अन्त में देवियाँ हार गईं, उन्हें विश्वास हो गया कि इन्द्रराज ने जो प्रशंसा की थी वह यथार्थ है। इसप्रकार उनके गुणों से प्रभावित होकर उन देवियों ने उन्हें वन्दन किया, क्षमायाचना की और उनकी स्तुति करके स्वर्ग लोक में चली गईं। रात्रि व्यतीत होते ही महाराजा मेघरथ ने निर्विघ्नरूप से अपना कायोत्सर्ग पूर्ण किया।

‘अहा, सदा आत्मचिन्तन में तत्पर ऐसे धर्मात्माओं को धन्य है कि जिनका ज्ञान, शील एवं ध्यान प्रशंसनीय है। देवों द्वारा भी जिनका चित्त चलायमान नहीं होता। मोक्ष की साधना में लीन महात्माओं की शूरवीरता वास्तव में अद्भुत आश्चर्यकारी है।

भगवान शांतिनाथ के तीसरे पूर्वभव की कथा चल रही है। विदेह की पुण्डरीकिणी नगरी में महाराजा मेघरथ, उनके भाई दृढ़रथ के साथ राज्य कर रहे हैं। दोनों भ्राताओं को धर्म-अर्थ-काम के साथ मोक्ष की साधना का पुरुषार्थ भी चल रहा है। मेघरथ की महारानी का नामा प्रियमित्रा है; वह भी धर्मसाधना में साथ दे रही है। वह शीलवान, गुणवान तथा अतिशय रूपवान है।

एक बार इन्द्रसभा में इन्द्रानी ने प्रियमित्रा के गुणों की तथा रूप की प्रशंसा की जिससे प्रभावित होकर दो अप्सराएँ उसका रूप देखने के लिए स्वर्ग से पुण्डरीकिणी नगरी में आयी। उस समय महारानी प्रियमित्रा अलंकार उतारकर सादे वेश में थी; उन्हें अलंकार रहित सादा वेश में देखकर भी वे अप्सराएँ आश्चर्यचकित हो गईं; और कहने लगी — हे महारानी ! हमने इन्द्रसभा में तुम्हारे रूप की जैसी प्रशंसा सुनी थी वैसा ही रूप प्रत्यक्ष देखा !

तब, ‘इन्द्रसभा में मेरे सौन्दर्य की प्रशंसा हुई !’- ऐसे गर्व से प्रियमित्रा ने कहा— हे देवियो ! अभी नहीं, कुछ समय पश्चात् जब मैं श्रृंगार करके वस्त्राभूषण सहित तैयार होऊंगी तब तुम मेरा अद्भुत रूप देखना !

कुछ ही समय पश्चात् वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर जब महारानी सिंहासन पर बैठी, तब उसका रूप देखकर दोनों देवियों ने प्रसन्न होने के बदले निराशा से सिर हिलाया !

रानी ने पूछा — क्यों ?

देवी ने कहा— हे सुभागी ! पहले श्रृंगार रहित तुम्हारा जो रूप हमने देखा था वैसा अब नहीं रहा। सोलह श्रृंगार सजने पर अब तुम्हारे रूप में कोई विकृति उत्पन्न हो गई है।

यह सुनते ही रानी एकदम उदास हो गई। उसने अपने स्वामी मेघरथ की ओर देखा। उन्होंने कहा— हाँ देवी ! इन अप्सराओं की बात सच है। तुम्हारे चेहरे की कान्ति में कुछ न्यूनता आ गई है ! अरे, शरीर के सौन्दर्य की ऐसी क्षणभंगुरता देखकर रानी प्रियमित्रा को एकदम वैराग्य आ गया और वह दीक्षा लेने को तैयार हो गई।

तब महाराजा मेघरथ ने उसे धैर्य बँधाया और कहा— हे देवी ! अभी दीक्षा मत लो; कुछ समय ठहरो; मेरा चित्त भी अब इन राजभोगों से उदास हो गया है, इसलिये अल्पकाल में ही तीर्थकर प्रभु का सुयोग मिलने पर हम दोनों साथ ही दीक्षा लेंगे !

उपरोक्त घटना को कुछ समय बीत गया; इतने में एकबार परमपिता भगवान घनरथ तीर्थकर का नगरी में आगमन हुआ। पिता और प्रभु पधारने की बधाई सुनते ही मेघरथ के हर्ष का पार नहीं रहा। अहा, महान भाग्योदय से धर्म का कल्पवृक्ष हमारे आँगन में फलित हुआ ! ऐसे आनन्दपूर्वक महाराजा मेघरथ सपरिवार महान उत्सवपूर्वक समवशरण में गये। एक तो उनके पिता और वे भी तीर्थकर ! उनके दर्शन से अति आनन्द हुआ। जैसा आनन्द परमपिता भगवान आदिनाथ के दर्शन से महाराज भरत को हुआ था, वैसा ही आनन्द परमपिता घनरथ तीर्थकर के दर्शनों से राजा मेघरथ को हुआ। सबने भक्तिसहित परमात्मा की वन्दना करके उनकी दिव्यवाणी का श्रवण किया। अहा, एक तीर्थकर के श्रीमुख से उन्हीं के पुत्र और भावी तीर्थकर धर्मोपदेश सुन रहे हैं, और साथ में उनके भ्राता भावी गणधर भी बैठे हैं। भगवान की वाणी में सम्यक्त्व से लेकर मोक्ष की साधना तक का वर्णन आया। रागरहित शुद्धापयोग द्वारा ही आत्मसाधना का प्रारम्भ और पूर्णता होती है—ऐसा भगवान ने बतलाया।

प्रभु की वाणी में मोक्षसाधना का अद्भुत वर्णन सुनकर राजा मेघरथ के चित्त में मोक्ष साधना की उत्सुकता उत्पन्न हो गई और वे संसार छोड़कर मुनिदीक्षा लेने का तैयार हुए। उनके भ्राता दृढरथ भी उन्हीं के साथ दीक्षित होने को तैयार हो गये।

मेघरथ ने उनसे राज्य सँभालने का कहा, परन्तु वे बोले कि— हे पूज्य बंधुवर ! जिस राजपाट और जिन विषयभोगों को असार जानकर आप त्याग रहे हैं, मैं भी उनको असार ही मानता हूँ। आप जिन्हें त्याग रहे हैं, उनका ग्रहण करने को मुझसे क्यों कहते हैं ? आप इन सबका मोह छोड़ रहे हैं तो मैं उनके मोह में क्यों पड़ूँ ? मैं तो आपका भव-भवान्तर का साथी सहोदर हूँ और मोक्ष

होने तक आपके साथ ही रहूँगा इसलिये मैं भी आपके साथ दीक्षा लेकर परमपिता के चरणों में रहूँगा ।

इसप्रकार घनरथ तीर्थकर के चरणों में उनके पुत्र मेघरथ और दृढ़रथ दोनों ने जिनदीक्षा अंगीकार कर ली । उनके साथ अन्य सात हजार राजाओं ने भी दीक्षा ग्रहण की, तथा महारानी प्रियमित्रा आदि अनेक श्राविकाएँ भी दीक्षा लेकर आर्यिका बन गई ।

दीक्षा लेकर मेघरथ और दृढ़रथ दोनों मुनिवरों ने आत्मध्यान द्वारा शुद्धरत्नत्रय धारण किये, उत्तम तप किया और बारह अंग का ज्ञान प्रगट करके श्रुतकेवली हुए । वे सदैव उत्तम वैराग्य भावनाओं में तत्पर रहते थे । घनरथ तीर्थकर के चरण सानिन्ध्य में मेघरथ मुनिराज ने क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट किया, तथा दर्शनविशुद्धि आदि सोलह उत्तम भावनाओं द्वारा सर्वोत्कृष्ट ऐसी तीर्थकर प्रकृति बाँधना प्रारम्भ किया, मानो एक तीर्थकर पिता के पास से उन्हीं के पुत्र ने तीर्थकरत्व का उत्तराधिकार प्राप्त किया । पिता घनरथ प्रभु तो पूर्वकाल में बाँधी हुई तीर्थकर प्रकृति को छोड़ रहे थे, जबकि पुत्र मेघरथ मुनिराज भविष्य में तीर्थकर होने के लिये नवीन तीर्थकर प्रकृति बाँध रहे थे । तो क्या घनरथ तीर्थकर द्वारा छोड़े गये उसी तीर्थकर प्रकृति के परमाणु मेघरथ मुनि के आत्मा में प्रवेश करते होंगे ? आश्चर्य !

ज्ञानी-ध्यानी दोनों मुनिवर अनेक वर्षों तक साथ-साथ विचरे । वे उपवासादि बाह्यतप तथा आत्मध्यानादि अंतरंग तप करते थे । वे शीत-उष्ण आदि समस्त परीषह सहते थे । यद्यपि विशेष पुण्ययोग के कारण ऋतुएँ उनके अनुकूल रहतीं और बाह्य में भी अन्य उपसर्ग नहीं आते थे । चाहे जैसी परिस्थिति में वे क्रोधादि कषाय नहीं होने देते थे । वीतरागी शांतभाव द्वारा उत्तम क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तप-त्याग-आर्किचन्य एवं बह्यचर्य, इन दस धर्मा का पालन करते थे । वैराग्य की वृद्धि तथा कर्मों की हानि के हेतु वे सदा अधुव-अशरण- एकत्व- अन्यत्व- अशुचि- संसार- आस्रव- संवर- निर्जरा- लोक- धर्म एवं बोधिदुर्लभ इन बारह अनुपेक्षाओं का चिन्तन करते थे । उन वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन उनके चित्त में आनन्द उत्पन्न होता था । बारम्बार शुद्धोपयोग द्वारा निर्विकल्प मोक्ष सुख का वेदन करते थे । शुद्धोपयोगी मुनि और सिद्ध में क्या कोई अन्तर है ? बाह्य स्थित जीव उनमें अन्तर देखते हैं तो देखें; उन्हें स्वयं तो निर्विकल्प आनन्द में लीनता होने से कोई द्वैत दिखायी नहीं देता ।

अहा, इससे विशेष उस मुनिदशा की क्या महिमा लिखें ? उस अतीन्द्रिय सुख को इन इन्द्रियजन्य अक्षरों द्वारा कैसे बतलाया जा सकता है ? ऐसी आनन्दमय दशा में झूलते-झूलते वे मेघरथ-दृढरथ मुनिवर अनेक वर्षों तक विचरे और धर्मोपदेश द्वारा अनेक जीवों का कल्याण किया। चौंसठ महान ऋद्धियों में से केवलज्ञान के अतिरिक्त अन्य सर्व ऋद्धियाँ उनको प्रगट हुई थीं, किंतु उन लब्धियों का उपयोग करना उनका लक्ष नहीं था। उनका लक्ष तो चैतन्य की साधना ही था। जब उनकी आयु एक ही मास शेष रही तब उन्होंने विधिपूर्वक समाधिमरण करने हेतु प्रायोपगमन सन्यास धारण किया। शरीर की अत्यन्त उपेक्षा करके वे ध्यान-स्वाध्याय में ही रहने लगे। उन्होंने आहार-जल का सर्वथा त्याग कर दिया। वे अपने शरीर की किसी प्रकार की सेवा सुश्रुषा करते नहीं थे तथा दूसरों के पास कराते नहीं थे। महान शूरवीरता पूर्वक वे चार आराधना में तत्पर थे। परिणामों की विशुद्धि बढ़ते-बढ़ते वे शुक्लध्यान में आरूढ़ हुए और उपशम भाव से गुणस्थान श्रेणी चढ़ने लगे। राग-द्वेष-मोह का उपशम करके वे ग्यारहवें वीतरागी गुणस्थान में पहुँचे और वीतरागी यथाख्यान चारित्र सहित उत्तम समाधिपूर्वक देह को त्याग कर, संसार के सर्वोत्कृष्ट स्थान ऐसे सर्वार्थसिद्धि स्वर्गलोक में उत्पन्न हुए।

दूसरा पूर्वभव

सर्वार्थसिद्धि में विराजमान



अपने चरित्र नायक भगवान शांतिनाथ और उनके भ्राता यह दोनों जीव सर्वार्थसिद्धि में विराजते हैं। जब वे सर्वार्थसिद्धि में विराजते थे तब भगवान कुंथुनाथ की आत्मा भी वहीं स्वार्थ-सिद्धि में उत्पन्न हुई थी। वाह, यहाँ एक क्षेत्र में दो तीर्थकर कभी साथ नहीं होते, परन्तु वहाँ तो अनेक तीर्थकर असंख्य वर्षों तक एकसाथ रहते हैं और एक-दूसरे से अद्भुत-अचिन्त्य चैतन्य चर्चा करते हैं। पाठको ! तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि स्वर्गलोक में

तथा नरक में भी वर्तमान में असंख्य तीर्थंकर जीव ऐसे हैं जो वहाँ की आयु पूर्ण होने पर सीधे तीर्थंकर रूप से अवतरित होंगे और एक-एक तीर्थंकर करोड़ों अरबों जीवों को संसार से तारेगा। वाह, कैसी है जैनधर्म की विशालता ! सर्वार्थसिद्धि-स्वर्गलोक सर्वश्रेष्ठ है। सिद्धशिला से वह मात्र बारह योजन नीचे है। वहाँ के देव जिसप्रकार क्षेत्र से सिद्धालय के निकट हैं उसीप्रकार भाव से भी सिद्धपद के बिल्कुल निकट हैं। शुद्धरत्नत्रयवान उत्तम मुनिवर ही सर्वार्थसिद्धि में उत्पन्न होते हैं; इसलिये वहाँ भी उनका जीवन एकदम शांत होता है। धर्मात्मा जीवों में तीर्थंकर पद प्राप्त करने वाले असंख्य जीव उत्पन्न होते हैं तब सर्वार्थसिद्धिका पदमात्र एक जीव प्राप्त करता है। वे सर्वार्थसिद्धि देव मात्र संख्यात ही है। वे सब अप्रतिहत सम्यग्दृष्टि हैं और असंख्य वर्षों तक वीतराग विज्ञान के अमृत का पान करते हैं। मुक्तिरमणी उन्हें पुकार कर मोक्षपुरी में बुला रही है; और वे देव भी विषय भोगों में अनासक्त होने पर भी मुक्तिरमणी में उनका चित्त आसक्त है। दिव्य रत्नों की प्रभा से झलकते हुए देव विमानों में उन अहमिन्द्र देवों को उत्कृष्ट पुण्य जनित सर्व सुख विद्यमान होने पर भी, उन सबसे परे अंतर के अतीन्द्रिय चैतन्य सुख को ही वे इष्ट मानते हैं। उनके शुक्ल लेश्या है, किसी प्रकार का पाप या प्रतिकूलता नहीं है, दुःख या रोग नहीं है। अहा, जहाँ के सर्व जीव पूर्वकाल में मुनि जीवन की वीतरागता का अनुभव करके आये हों, सब सम्यग्दृष्टि हों, सब आत्मानुभवी हों और सभी एक भव पश्चात परमात्मा बनकर मोक्ष जानेवालेहों; तब स्वर्गलोक के धार्मिक वातावरण का क्या कहना ! वहाँ सबके परिणाम एकदम शांत हैं, बाह्य में कोई छोटा-बड़ा नहीं है, कहीं ईर्ष्या या क्लेश नहीं है। एक क्षणमात्र में सर्वत्र जाने की शक्ति होने पर भी अपने विमान के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं जाने की आकुलता नहीं है। वे देव अपने देवविमान में विद्यमान शाश्वत जिनप्रतिमाओं का दर्शन - पूजन-स्तवन करते हैं। अवधिज्ञान द्वारा तीर्थंकरों का पंचकल्याणक देखकर जिन-महिमा करते हैं और सदा मोक्ष के कारणभूत तत्वचर्चा करते हैं। उन देवों के देवियाँ नहीं होती, तथापि इन्द्रों की अपेक्षा वे अधिक सुखी हैं। अंतर में स्वयं साक्षात् अनुभव किये हुए आत्मतत्व के अगाध अपार-वैभव की अनन्त महिमा की चर्चा एवं चिन्तन वे असंख्य वर्षों तक करते रहते हैं। उसमें उन्हें कभी अरुचि नहीं होती; उनको निद्रा नहीं है, आहार नहीं है, मात्र 33000 वर्ष में एकबार अपने ही कण्ठ से झरते अमृत के स्वाद का मन में चिन्तवन करके तृप्त हो जाते हैं। उनको कभी इष्ट का वियोग या अनिष्ट का संयोग नहीं होता।

पूर्वभ्रम में वे रत्नत्रय के प्रताप से सुखी थे, वर्तमान में सुखी हैं और अगले भ्रम में मोक्षसुख प्राप्त करने वाले हैं। उनको कोई चिन्ता या भय नहीं है, किसी के प्रति द्वेष या बैरभाव नहीं है; निचले देवों की अपेक्षा उनका शरीर छोटा है, परन्तु सुन्दरता महान है। उनको समस्त त्रसनाड़ी के असंख्यात योजनों को जानने का अवधिज्ञान तथा उतनी ही महान विक्रिया ऋद्धि होती है परन्तु वे उस ऋद्धि का उपयोग कभी नहीं करते, क्योंकि वे मुनि समान इच्छा रहित होते हैं। इसप्रकार मेघरथ और दृढरथ जो कि सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र हुए हैं वे दोनों भ्राता तेतीस सागर तक सुखसागर में निमग्न रहने पर भी, भ्रमसागर को पार करके बाहर निकले और अब मोक्षपुरी में जाने के लिए मनुष्य लोक में आने को तैयार हुए। चलो, वे आयें उससे पूर्व उनका स्वागत करने तथा जन्मोत्सव देखने के लिए हम हस्तिनापुर में पहुँच जायें।

हस्तिनापुर में शान्तिनाथ - अवतरण

निजवैभवं कर प्राप्त, आपने पायी शान्ति अनन्त;
ध्याते हैं हे नाथ, माँगते हम भी भ्रमका अन्त।
चक्रवर्ती- पद छोड़ प्रभो पहुँचे शिवपुर थान;
जीवों को शान्ति प्रदान कर, पाया पद निर्वाण ॥

हे प्रभु शान्तिनाथ ! आपका जीवन सचमुच अद्भुत है, संसार का अन्त करते-करते आपने संसार के सर्वोच्च पद चक्रवर्ती पद, सर्वार्थ सिद्धपद तथा तीर्थकर पद भी प्राप्त कर लिये और अन्त में उन सबसे परे ऐसे सिद्धपद को प्राप्त करके मोक्षपुरी में विराज गये इसलिये आपका जीवन आनन्द मंगलकारी है।

अह, प्रभु के उत्तम चरित्र की महिमा का क्या कहना ! मैं शान्तिनाथ भगवान् का जीवन चरित्र पढ़ता हूँ इसप्रकार इस कथा में उपयोग लगाने से भी संसार की सर्व अशांति दूर होकर आत्मा में कोई नवीन शान्ति प्रगट होती है। शान्ति प्रिय श्रोताओ ! तुम भी भक्तिपूर्वक स्थिरचित्त से यह शान्तिनाथ प्रभु का चरित्र सुनो !

अपने इस भरतक्षेत्र में हस्तिनापुर नगरी है। पूर्वकाल में भगवान् ऋषभदेव उस नगरी में विचरे थे और दीक्षा के पश्चात् सर्वप्रथम आहार उस हस्तिनापुरी नगरी में राजा सोमप्रभ तथा श्रेयांस कुमार के हाथ से किया था। पड़सलिये इस चौबीस में उत्तम दान तीर्थ का प्रारम्भ उस नगरी में ही हुआ था। पश्चात् उन

सोमराजा के पुत्र जयकुमार हस्तिनापुर के राजा हुए, वे भरत चक्रवर्ती के सेनापति थे, पश्चात् दीक्षा लेकर ऋषभदेव भगवान के गणधर हुए और मोक्ष प्राप्त किया। तत्पश्चात् उन सोमराजा के कुरुवंश में असंख्य राजा हुए और उन्होंने भी मोक्ष प्राप्त किया। अब, जिस समय की अपनी यह कथा है उस समय, हस्तिनापुरी के कुरुवंश में विश्वससेन महाराज राज्य करते थे। उनकी महारानी अचिरादेवी की कुक्षि से से सोलहवें तीर्थकर का अवतरण हुआ। उनका यह मंगल जीवन भव्य जीवों को अपूर्व शान्तिदायक है। हे सुभव्य साधर्मियों ! अतीन्द्रिय शांतिवान भगवान शांतिनाथ को ध्यान द्वारा हृदय में विराजमान करके, उनका यह मंगल चरित्र पढ़ो — सुनो !

अरे, जिससे कषाय की वृद्धि होकर वैराग्य का नाश हो ऐसी विकथा, अपने आत्म कल्याण के इच्छुक जीवों को कभी नहीं सुनना चाहिए। क्योंकि यह कथा सुनने से पाप का बंध होता है और धर्म के संस्कार नष्ट हो जाते हैं। जिस कथा के श्रवण से वैराग्य की वृद्धि हो और परिणाम शांत-उज्ज्वल हों वही कथा सत्पुरुष के मुख से निरन्तर भक्तिपूर्वक श्रवण करना चाहिए, क्योंकि उसके श्रवण-पठन से धार्मिक संस्कार का पोषण होता है और पूर्वकृत पाप नष्ट हो जाते हैं। इसलिये कर्ण-अंजलि द्वारा इस धर्म कथा के श्रेष्ठ अमृत कथा का पान करो।

अहा तीर्थकरादि महापुरुषों की धर्मकथा बड़े या छोटे, स्त्री या पुरुष सबको आनन्द प्राप्त कराती है और उत्तम संस्कारों के सिंचन द्वारा सन्मार्ग बतलाकर जीव को मोक्ष मार्ग में लगाती है। अरे, मनुष्य तो ठीक... देवों को भी आनन्द प्राप्त कराये ऐसी यह धर्मकथा है। भव्य जीवो ! तुम आत्म कल्याण हेतु सुन रहे हो, वह सचमुच तुम्हारे उत्तम भाग्य का संकेत है।

भरतक्षेत्र में ऋषभदेव से लेकर धर्मनाथ तक पन्द्रह तीर्थकर और भरतादि चार चक्रवर्ती हो गये। अब उनके पश्चात् होने वाले तीन तीर्थकर तथा वे तीन चक्रवर्ती जहाँ अविरत होने वाले हैं ऐसी सुन्दर हस्तिनापुरी में चलें। यहाँ के राजा-प्रजा पुण्यवन्त हैं और देव-गुरु-धर्म की उपासना में, तत्पर रहते हैं व्यापार-धंधा तथा रसोई में आरम्भ में उन्हें जो थोड़ा पाप लगता है उस पाप को जिनपूजा-स्वाध्याय-दानादि सत्कार्यों द्वारा प्रतिदिन धो डालते हैं। दुनिया की श्रेष्ठ वस्तुएँ इस नगरी में आती हैं। यहाँ के पुण्यवान लोगों को भविष्य की कोई चिन्ता नहीं है। इसलिये जितना कमाते हैं उतना दानादि में व्यय कर देते

है। तथापि पुण्योदय से उनकी सर्व वस्तुओं में वृद्धि होती रहती है। उत्तम दान के लिये तो यह नगरी भगवान ऋषभदेव के शासनकाल से जगत प्रसिद्ध है।



स्वप्न देखे उसी समय, असंख्य योजन दूर ऐसे सर्वार्थसिद्धि स्वर्ग से प्रभु शांतिनाथ का जीव तीर्थकर-अवतार के रूप में उनके उदर में अवतरित हुआ। महारानी ने अल्पनिद्रा में देखा कि एक महासुन्दर सुगंध युक्त हाथी उनके मुख में प्रविष्ट हो रहा है।

महारानी जाग उठी; अति हर्षपूर्वक पंचपरमेष्ठी का चिंतन किया। पश्चात् राजसभा में पहुँची और महाराजा से आनन्ददायक मंगल स्वप्नों की बात कही। अवधिज्ञानी विश्वसेन महाराजा ने जान लिया कि अहा ! अपने यहाँ त्रिलोकनाथ तीर्थकर का आगमन हुआ है। हे देवी ! सोलहवें तीर्थकर का जीव तुम्हारे गर्भ में अवतरित हो चुका है। इतना ही नहीं, वह महान आत्मा चक्रवर्ती होकर सारे भरतक्षेत्र पर राज्य करेगा और पश्चात् तीर्थकर होकर समस्त विश्व में धर्म का साम्राज्य चलाएगा। उसका रूप अद्भुत सुन्दर होगा, वह कामदेव, चक्रवर्ती

माघ का महिना चल रहा था अचानक ही हस्तिनापुर में राजभवन के प्रांगण में करोड़ों रत्नों की वर्षा होने लगी; और छह मास पश्चात् भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को महारानी अचिरादेवी ने अति मंगल सूचक सिंह हाथी, माला, रत्नराशि आदि सोलह उत्तम स्वप्न देखे। अहा, प्रकृति की रचना तो देखो; सर्व तीर्थकरों की माताएँ एक समान सोलह मंगल स्वप्न नियम से देखती हैं। ऐसे उत्तम सोलह स्वप्न तीर्थकर की माता के अतिरिक्त और किसी को नहीं आते। जिस समय अचिरा माता ने

एवं तीर्थकर-ऐसी तीन उत्तम पदवियों का धारी होगा ।

वाह ! ऐसी बात सुनकर किसे हर्ष नहीं होगा ? महादेवी, अचिरामाता के हर्षानन्दका पार नहीं रहा-अहा, 'ऐसा धर्मात्मा और मोक्षगामी जीव मेरे उदर में !' ऐसे परम उल्लास से उनके अंतर में चैतन्य महिमा के अपूर्वभाव जागृत हुए । असंख्य प्रदेशों में उन्हें किन्हीं अपूर्व चैतन्य भावों का वेदन हुआ उनके अंतर से मोहान्धकार दूर होकर चैतन्य प्रकाश खिल उठा । अहा, धन्य तीर्थकर महिमा ! वह त्रिकाल मंगल आत्मा जिसके उदर में विराजमान हो उसके अंतर में मोहान्धकार रह ही नहीं सकता ।

शांतिनाथ प्रभु के गर्भ कल्याणक का उत्सव करने हेतु स्वर्ग से इन्द्र आ पहुँचे । उन्होंने महाराज विश्वसेन तथा महादेवी अचिरामाता का तीर्थकर के माता पिता के रूप में सम्मान किया । दिव्य वस्त्राभूषण भेंट किये और स्तुति की । अहो, आपके यहाँ सोलहवें तीर्थकर का आगमन हुआ है आप तीर्थकर के माता पिता होने से जगत के माता-पिता हैं ।

हस्तिनापुरी के भाग्य का उदय हुआ; उसे अयोध्यातीर्थ जैसा गौरव प्राप्त हुआ । वहाँ प्रतिदिन रत्नों की वर्षा होती थी; शान्ति एवं समृद्धि बढ़ती जा रही

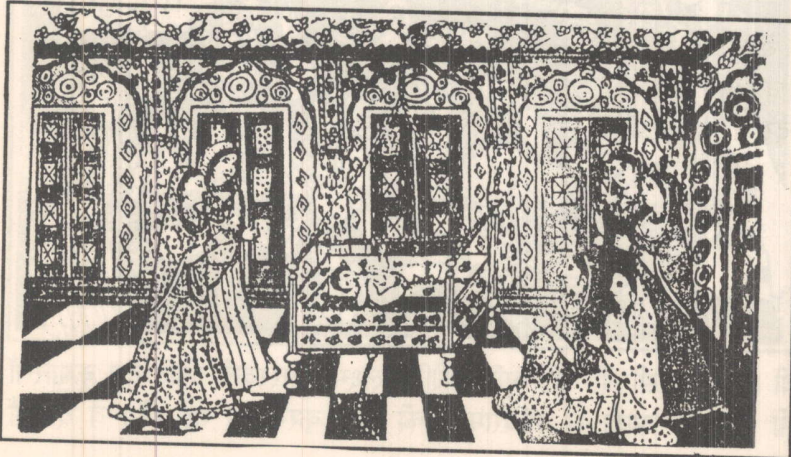


थी । कमलवासी श्री- ह्रीं- धृति- कीर्ति- लक्ष्मी- सरस्वती आदि देव कुमारियाँ भी इन्द्र की आज्ञा से अचिरामाता की सेवा करने आ गई थीं । वे देवियाँ

आनन्द-विनोदपूर्वक चर्चा करके माता को आनन्दित करती थीं और उदरस्थ प्रभु की महिमा प्रगट करती थीं।

- * एक बार श्रीदेवी ने पूछा— हे सखी ! इन माताजी के आसपास सर्वत्र इतनी अधिक शान्ति क्यों है ?
- * तब लज्जावती हीं देवी ने कहा— सुन हे देवी ! भगवान शांतिनाथ स्वयं माताजी के उदर में विराज रहे हैं, उन्हीं के प्रताप से इतनी अधिक शान्ति छा रही है !
- * धैर्यदेवी ने पूछा— हे सखी ! महाराजा विश्वसेन एवं अचिरामाता की कीर्ति अचानक ही जगत में कैसे फैल गई ?
- * कीर्तिदेवी ने कहा— हे देवी ! तीन लोक की कीर्ति को वश में करने वाला तीर्थंकर का आत्मा उनके यहाँ पुत्ररूप में आया है इसलिये।
- * लक्ष्मी देवी ने पूछा— हे देवी सरस्वती ! आजकल अचिरामाता के अंतर में सरस्वती उमड़ रही है और सम्पूर्ण राज्य में लक्ष्मी की खूब वृद्धि हो रही है उसका क्या कारण है ?
- * सरस्वती ने कहा— हे लक्ष्मी ! इस समय माताजी के उदर में जो तीर्थंकर विराज रहे हैं वे तीन लोक की लक्ष्मी तथा तीन लोक में श्रेष्ठ सरस्वती के केवलज्ञान के स्वामी होने वाले हैं, इसलिये यहाँ लक्ष्मी और सरस्वती दोनों उमड़ने लगी हैं।

ऐसी उत्तम चर्चा में प्रसन्नतापूर्वक भाग लेकर माताजी भी देवियों को आनन्द प्राप्त कराती थीं। इसप्रकार प्रसन्नता के वातावरण में सवा नौ महीने बीत गये।



ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन माता अचिरादेवी ने एक सर्वोत्कृष्ट पुत्र को जन्म दिया मानों जगत् प्रकाशक दीपक प्रज्वलित हुआ। उसी क्षण उसके तेज से तीन लोक प्रकाशित हो गये। अभी केवलज्ञान का दिव्यप्रकाश तो फिर होगा, उससे पूर्व ही पुण्योदय के महातेज से पृथ्वी जगमगा उठी। मात्र मनुष्य का ही नहीं, स्वर्ग का तथा नरक का वातावरण भी दो क्षण के लिये शांतिमय हो उठा। सर्वत्र ही एक प्रकार का नूतन आह्लाद छा गया। स्वर्ग के दिव्य वाद्य एक साथ बजने लगे और दिव्य ऐरावत हाथी पर बैठकर इन्द्र महाराज हस्तिनापुरी में प्रभु का जन्मोत्सव मनाने देवों के ठाटबाट सहित आ पहुँचे। तीर्थकर प्रभु के जन्म का ऐसा महान उत्सव हुआ कि मानो दुनिया भर का आनन्द यहाँ एकत्रित हुआ हो! 'शांति' प्रभु का अवतरण होने से तीनों लोक के अंतर में शान्ति अवतरित हुई।

उस बालक शांतिकुमार को गोद में लेकर इन्द्रानी धन्य हो गई। अहा, तीर्थकर समान धर्मात्मा का सीधा स्पर्श होने से वह परम वात्सल्यपूर्वक रोमांचित हो गई। देव पर्याय में यद्यपि पुत्र नहीं होते परन्तु किसी सातिशय पुण्य योग से तीर्थकर शिशु को अपनी गोद में लेते हुए उस इन्द्रानी का पुत्रसुख की अपेक्षा विशेष किसी लौकिक संतोष का अनुभव हुआ। वह भूल गई की मैं इन्द्रानी हूँ; वह तो ऐसा वेदन करने लगी मानो वही बच्चे की 'माँ' हो और प्रभुभक्ति में तल्लीन होकर स्वयं को ही प्रभुरूप से अनुभव करने लगी। अहा, बालतीर्थकर भी अनेक जीवों को सम्यक्त्व में कारण हाते हैं। मोक्षगामी बालक को गोद में लेने से वह इन्द्राणी भी मोक्षमार्गी बन गई। आनन्द के अपूर्व रोमांचपूर्वक इन्द्रानी ने उन बाल तीर्थकर को इन्द्र के हाथ में दे दिया। इन्द्र तो उन बाल तीर्थकर का रूप देखकर मानो हर्षोन्मत्त ही हो गया! वह एक साथ हजार नेत्र बनाकर प्रभु का रूप निहार रहा था। उसे आश्चर्य हुआ की इन्द्रलोक से भी सुन्दर वस्तु इस मनुष्य लोक में हो सकती है! अरे, सच बांत है कि मुनिदशा और मोक्ष समान सर्वश्रेष्ठ वस्तु इन्द्रलोक में कहाँ है? वह तो मनुष्यलोक में ही है न! इन्द्र का गर्व उतर गया और मनुष्यलोक की तीर्थकर-विभूति के समक्ष स्वर्गलोक की इन्द्रविभूति भी उसे तुच्छ लगने लगी। हजार नेत्रों वाला इन्द्र प्रभु का रूप देखकर ऐसा तल्लीन हुआ कि अपनी इन्द्रानी के दिव्य रूप को ही भूल गया वह ऐसा सूचित करता है कि वीतराग स्वरूप का अवलोकन करने वाले मुमुक्षु भव्यात्मा का चित्त उसमें ऐसा तल्लीन हो जाता था कि जगत के विषय कषायों में उसका चित्त सहज ही हट जाता है।

प्रभु को देवी ऐरावत हाथी पर विराजमान करके महान शोभा यात्रा सहित इन्द्र मेरुपर्वत पर ले गया और वहाँ अतिशय भक्तिपूर्वक अभिषेक किया। असंख्य वर्षों पूर्व के इन्द्र ने क्षीरसागर के पवित्र जल से भगवान आदिनाथ का जैसा महाभिषेक किया था, वैसा ही इस इन्द्र ने शांतिनाथ भगवान का किया। बाल तीर्थकर प्रभु की शोभायात्रा से वह हाथी भी धन्य हो गया ! वास्तव में वह कोई हाथी नहीं था, वह तो सौधर्म स्वर्ग का एक देव



था, और प्रभु को अपनी पीठ पर विराजमान करने के लिए स्वयं विक्रिया द्वारा हाथी का रूप धारण किया था। हाथी भी कैसा ? देवी ! जिसका वर्णन कल्पनातीत है। एक लाखयोजन बड़ा, कितनी ही सूँढ़ें; प्रत्येक सूँढ़ में सरोवर; सरोवर में कमल, और उन कमलों की प्रत्येक पंखुरी पर भक्तिसहित नृत्य करती हुई अप्सराएँ अद्भुत थी वह रचना ! अहा जिसकी पीठ पर तीर्थकर बैठे हों उसकी शोभा का क्या कहना !!

पुराणकार कहते हैं कि उस समय ऐरावत हाथी के साथ इन्द्र की सात प्रकार की सेना में करोड़ों वाद्यों सहित अरबों हाथी घोड़े-रथादि थे। वास्तव में वे कोई तिर्यचजीव नहीं थे, किन्तु देवों की ही उसप्रकार की अद्भुत विक्रिया थी। इन्द्र का ठाटबाट वैभव इतना विशाल और अचिन्त्य था कि सम्पूर्ण मनुष्यलोक में जिसका समावेश न हो; ऐसी अचिन्त्य विभूतिवान इन्द्र को भी ऐसी अद्भूत जिनभक्ति करता देखकर अनेक मिथ्यादृष्टि देव भी जैन धर्म की श्रद्धा से सम्यग्दृष्टि बन जाते थे। इसी से 'जिनमहिमा-दर्शन' को सम्यग्दर्शन का कारण कहाँ है। वे इन्द्र-इन्द्रानी, वह ऐरावत हाथी वे देव-देवी-सब तीर्थंकर की भक्ति से जितने पुण्यकर्मों का उपार्जन एवं पाप कर्मों को विर्सजन करते थे, उनमें अल्पता-अधिकता किसी की थी वह हम नहीं कह सकते; परन्तु इतना अवश्य कह सकते हैं कि उस समय उस जिनमुद्रा के दर्शन से वीतराग रस की पुष्टि होती थी वह सबसे महान थी और मोक्ष का कारण भी। शांतिप्रभु के सान्निध्य में शांति का वह एक चमत्कार था। भक्ति की चेष्टाएँ सबकी भिन्न-भिन्न थी परन्तु उस भक्ति का फल तो सबको समान ही था। धन्य है जिन महिमा !

उन शिशु भगवान का स्वरूप यद्यपि स्वयं सुशोभित था, शोभा के लिये किसी बाह्य अलंकार की आवश्यकता उनको नहीं थी; तथापि स्वर्गलोक स्थित मानस्तंभ के दिव्य पिटारों में उत्पन्न हुए सर्वोत्कृष्ट अलंकार में तीर्थंकर के अतिरिक्त किसे पहनाऊं ? इन दिव्य अलंकार को धारण कर सके ऐसा तो विश्व में दूसरा कोई है नहीं ऐसा सोचकर इन्द्रानी ने स्वर्ग के दिव्य वस्त्राभूषण बाल तीर्थंकर को पहिनाये और साथ ही प्रभु के मस्तक पर रत्नों का मंगल तिलक लगाया। इस बहाने मानों उसने अपने आत्मा को ही मोक्ष का तिलक लगा दिया। पश्चात् वह इन्द्रानी इधर से और उधर से और मुँह फेर-फेरकर आश्चर्य पूर्वक प्रभु की शोभा निहारने लगी।

उन प्रभु के दर्शन से सर्व जीवों को शान्ति हो रही थी, इससे इन्द्र ने उन सोलहवें तीर्थंकर का नाम 'शांतिनाथ' रखा। उनके चरण में मृग का चिन्ह था। जन्माभिषेक के पश्चात् १००८ मंगल नामों से इन्द्र ने प्रभु की स्तुति की। अद्भुत ताण्डव नृत्य किया और प्रभु की शोभायात्रा के साथ हस्तिनापुर लौटे।

हस्तिनापुर के राजमहल में आकर इन्द्र ने सन्मानपूर्वक भगवान के माता पिता को उनका पुत्र सौंपा और उनके समक्ष पुनः बाल तीर्थंकर की भक्ति की। इन्द्र स्वयं इन्द्रानी के साथ थिरक - थिरककर नाच रहा था। अंतर में अपार उल्लास होने पर कौन नहीं नाच उठता ? अहा इन्द्र के नृत्य का क्या कहना !

वह एकसाथ हजार हाथ उठाकर और उस प्रत्येक हाथ पर उसी जैसा इन्द्र उसी जैसे हावभाव प्रदर्शित करके नृत्य कर रहा हो - ऐसी विक्रिया करके नाच रहा था। उसका नृत्य इतना अधिक गतिशील था कि तबले पर धाधीन् एवं धातीन् इसप्रकार एक ताल के पश्चात दूसरा ताल पड़े उससे पूर्व वह दो तालो के अन्तराल में मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करके आ जाता था और ताल में ताल मिलाकर नृत्य करता था।

अहा, राजभवन के प्रांगण में करोड़ों प्रजाजनों के समक्ष एक और इन्द्र ऐसा अद्भुत नृत्य कर रहा था और सामने अचिरामाता की गोद में बैठा-बैठा वह शांतिकुमार उस नृत्य को देखकर अपने अंतर में इन्द्र के उस नृत्य से भी अद्भुत ऐसी आनन्दमय ज्ञानचेतना को नचा रहा था। अंतर के उस नृत्य को देखनेवाले विरले ही थे। हस्तिनापुरी के प्रजाजनों के हर्ष का पार नहीं था, क्योंकि उन्हें तो एक ओर तीर्थकर के साक्षात् दर्शन तथा दूसरी ओर इन्द्र का नृत्य- ऐसी दो अद्भुत वस्तुएँ एकसाथ देखने का मिल रही थीं। देव तो हस्तिनापुर में एक ही वर्ष में दूसरी बार आये थे इसलिये उनके आने का कोई आश्चर्य नहीं लगता था, परन्तु भगवान के दर्शनों से सबको हार्दिक आनन्द प्राप्त होता था। पुत्र की ऐसी अद्भुत महिमा देखकर माता-पिता के तथा नगर जनों के अंतर में अनुपम चैतन्य महिमा का उदय हुआ। अनेक जीव इस अवसर पर सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। उस समय सातवें नरक के जीवों को चित्त में भी क्षणभर शांति का अनुभव हुआ तो अन्य दूसरों का क्या कहना ! शांतिनाथ का अवतार सर्व जीवों को शांति का कारण हुआ। वे जिस राजभवन में विराजते थे उस नंद्यावर्त भवन की शोभा अद्भुत थी। उस भवन में 'जीवंत जिन' का निवास होने से वह एक साक्षात् 'जिनमन्दिर' था दूसरे जिनमन्दिरों में तो जिनबिम्बरूप 'स्थापना-जिन' होते हैं, जब कि इस मन्दिर में तो साक्षात् 'द्रव्यजिन' स्वयं विराज रहे थे, इसलिये वह जगत का एक मंगल तीर्थ था।

पन्द्रहवें तीर्थकर भगवान धर्मनाथ का शासन लगभग तीन सागर तक चला। उसके अन्त भाग में पाव-पल्य (लाखों करोड़ों वर्ष) तक धर्म का विच्छेद हो गया था। तत्पश्चात् सोलहवें तीर्थकर शांतिनाथ भगवान का अवतरण हुआ और धर्म की धारा पुनः प्रवाहित हुई। उनकी आयु एक लाख वर्ष थी, शरीर की ऊंचाई ४० धनुष (लगभग १०० मीटर) थी; उसमें चक्र-ध्वज-शंख-पद्म-मृग-तोरण आदि उत्तमोत्तम १०८ चिन्ह थे। जगत में श्रेष्ठ ऐसा चक्रवर्ती पद, सर्वार्थसिद्धि- इन्द्रपद या तीर्थकर पद धर्माश्रयक जीवों को

ही प्राप्त होते हैं। धर्मरहित जीवों को ऐसा उत्तम पुण्य नहीं होता। ऐसी समस्त पदवियाँ धर्मसाधक भगवान शांतिनाथ के जीव को धर्म की साधना युक्त उत्तम पुण्य द्वारा प्राप्त हुई थीं, तथापि अंत में तो उन सब कर्मजनित संयोगी पदवियों को छोड़कर प्रभु ने स्वभावभूत ऐसे असंयोगी सिद्धपद को ही साधा। प्रभु का जीवन हमें यह बतलाता है कि भव में अविरत होना वह वास्तव में कृतार्थता नहीं है, परन्तु अवतार का अन्त करके अनंत सिद्धपद की प्राप्ति में ही कृतार्थता है।

कामदेव के रूप में, चक्रवर्ती के रूप में उनके शरीर की सुन्दरता सर्वोत्कृष्ट थी, तो अंतर में अपूर्व भेदज्ञान, क्षायिकसम्यक्त्व और अवधिज्ञान द्वारा उनके आत्मा का सौंदर्य भी महान था। उनकी दस अंगुलियों की कोमलता में मानो उत्तमक्षमादि दस धर्मों का वास था, इसलिये उनमें किंचित कठोरता नहीं थी। उन बाल तीर्थकर शांतिकुमार के मस्तक के कोमल घुंघरुले बालों से लेकर पैरों के चमकदार नखों-तक शरीर के समस्त अवयवों की शोभा का भिन्न-भिन्न वर्णन करने की क्या आवश्यकता है ? इतना कहना ही बहूता होगा कि उस शरीर के सर्वांग में व्याप्त होकर एक महामंगलरूप तीर्थकर प्रभु विराज रहे थे। शरीर के सर्व प्रदेशों में सर्वत्र एक धर्मात्मा-तीर्थकर जीव के असंख्य प्रदेश (क्षायिकसम्यक्त्व-सहित) भरे हुए थे। इसलिये किसी निक्षेप से तो वह शरीर स्वयं 'भगवान' तथापि, उन प्रभु के दर्शन से सम्यग्दर्शन उन्हीं को प्राप्त होता था जो गहरे उतरकर शरीर से परे ऐसी अचिन्त्य शोभा द्वारा प्रभु की पहिचान करते थे। धन्य है तीर्थकर अवतार !

भगवान शांतिनाथ का अवतरण होने के कुछ समय पश्चात् महाराजा विश्वसेन की दूसरी रानी ने भी एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। पूर्वकाल में मेघरथ के भव में जो दृढरथ नाम का भाई था और जो सर्वार्थसिद्धि में साथ था, वह जीव वहाँ से चलकर यहाँ शांतिनाथ प्रभु के भ्राता के रूप में अवतरित हुआ, उसका नाम है चक्रायुध।

दोनों भ्राता जो कि तीर्थकर और गणधर की जोड़ी है दिन-प्रतिदिन वृद्धिगत होने लगे। उनके गुणों का वैभव अधिकाधिक विकसित होने लगा। उनकी बालक्रीडाएँ भी आश्चर्यजनक थीं। देव भी उनके साथ क्रीड़ा करने हेतु उन्हीं जितने बालक का रूप धारण करके हस्तिनापुरी में रहते थे। अहा, तीर्थकर का सहवास किसे अच्छा नहीं लगेगा ? पुण्यजनित राज्यलक्ष्मी और धर्मजनित मोक्षलक्ष्मी दोनों के वे स्वामी थे, तथापि मोक्षलक्ष्मी का सन्मान करते और

पुण्यलक्ष्मी के प्रति उदासीन रहते थे। अर्थात् मोक्षलक्ष्मी जो महारानी के स्थान पर थी और पुण्यलक्ष्मी मात्र दासी समान थी। दोनों भ्राता आत्मानुभवी, चरमशरीरी तथा अत्यन्त आत्मरसिक थे। अनेक बार जब वे आत्मानुभव की गंभीर एवं आनन्दकारी चर्चा करते तब, तीर्थकर-गणधर की वह अद्भुत धर्मचर्चा सुनकर जिज्ञासु जीव मुग्ध हो जाते थे और तत्त्वस्वरूप को समझकर अनेक जीव आत्मानुभव कर लेते थे। 'वे आत्मानुभव की कैसी अद्भुत चर्चा करते होंगे ?' हे पाठक ! तुम्हारे अंतर की वह जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये यहाँ थोड़ी सी बानगी देता हूँ।

एक बार शांतिकुमार और चक्रायुध कुमार दोनों भ्राता मनोहर उद्यान में पर्यटन हेतु गये; साथ में और भी अनेक लोग थे। आनन्द-प्रमोद में दिन पूरा हुआ। सायंकाल शांतिनाथ ने अपने भाई से कहा— भाई चक्र ! चलो, शांति से दो घड़ी अंतर में परमात्मतत्त्व का चिंतन करें। यह बात सुनकर चक्रकुमार प्रसन्न हुए, और दोनों भाई ध्यान में बैठकर आत्मस्वरूप का चिन्तन करने लगे। तुरन्त ही परिणाम शांत हुए और एक- एक उपयोग निजस्वरूप में एकाग्र होने से स्वानुभूति के निर्विकल्प आनन्द का अनुभव हुआ। वे जीवन में बारम्बार ऐसा अनुभव करते थे। उस समय तो मानों कोई दो सिद्धभगवंत वहाँ विराजते हों, ऐसा लगता था। योगी समान ध्यानस्थ उन दोनों राजकुमारों को देखकर सब लोग भी प्रभावित हुए और सब प्रवृत्ति छोड़कर आत्मचिन्तन में बैठ गये। चारों ओर शांति का स्तब्ध वातावरण छा गया। अरे, वन के सिंह और शशक, सर्प और मोर आदि पशुपक्षी भी उनकी शांत ध्यानमुद्रा देखकर आश्चर्य को प्राप्त हुए और वैर या भय छोड़कर सब शांत परिणाम से प्रभु सन्मुख बैठ गये मानो समवशरण में ही बैठे हों ! किसी प्रकार के कोलाहल बिना अधिक समय ऐसे ही परम शांति में बीत गया, जिसे देखकर क्रोध से भिन्न चैतन्य शांति कैसी होती है वह भव्य जीवों की प्रतीति में आ जाता था और परम शांत मोक्षतत्त्व की श्रद्धा हो जाती थी।

ध्यान पूर्ण होने पर तृप्त-तृप्त होकर जब दोनों राजकुमारों ने आँखे खोली तब आसपास का एकदम प्रशांत वातावरण देखकर तथा सर्व जीवों को आत्मशांति के विचार में देखकर, दोनों को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। अहा, मानो तीर्थकर का समवशरण ही हो !

प्रभु की मधुर दृष्टि से सब सभाजन प्रसन्न हुए। कुछ समय पश्चात नगर सेठ बोले— हे देव ! आपका आश्चर्यजनक ध्यान देखकर हम सबको

भी आत्मध्यान की प्रेरणा जागृत हो उठती है और बिना सीखे सहज ही आत्मध्यान आ जाता है। हे प्रभो ! आप दोनों भ्राताओं ने किसप्रकार आत्मध्यान किया ? और उस ध्यान में क्या देखा ? वह जानने की हम सबको उत्कण्ठा है, तो कृपा करके बतलाइये।

नगर सेठ का ऐसा उत्कंठा भरा प्रश्न सुनकर दोनों भाई प्रसन्न हुए और उनकी जिज्ञासा पूर्ण करने के लिये वे स्वानुभव की चर्चा करने लगे। अहा ! दो भाई, दोनों सम्यग्दृष्टि- चरमशरीरी- मोक्षगामी; एक तीर्थकर और दूसरे गणधर; कैसी सुन्दर जोड़ी ! उनकी स्वानुभूति की चर्चा सुनो।

शांतिकुमार : हे भाई चक्रायुध ! शुद्ध आत्मतत्त्व का ध्यान कौन कर सकता है ? और उसके लिये पात्रता कैसी होती है, वह कहो !

चक्रायुधकुमार : आत्मतत्त्व अति अद्भुत है, अचिन्त्य महिमावान है। प्रथम जिसने जैनधर्म के ज्ञाता-अनुभवी के निकट रहकर आत्मतत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझा हो, उसके शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्यायों को राग से विभक्त तथा चैतन्य स्वरूप से एकत्वरूप जाना हो, उसे जानने पर चैतन्य रस की मिठास-लगन लगी हो और रागरस के प्रति उदासीनता हो गई हो; ऐसा मुमुक्षु जीव विषय-कषायों से विरक्त होकर शांत परिणाम द्वारा चैतन्यानुभव के लिये चित्त का आत्मा में एकाग्र करने का सतत प्रयास करता रहता है। ऐसे सुपात्र जीव को जब चैतन्यरस की पराकाष्ठा होती है तब उसका उपयोग आत्मोन्मुख स्थिर हो जाता है, उसका नाम स्वानुभूति है। हे बंधुवर ! अनेक भवों से आपके उत्तम समागम के कारण मैंने ऐसी स्वानुभूति का स्वरूप जाना है।

शांतिकुमार : हे बंधु ! तुम्हारी बात उत्तम है। उस स्वानुभूति के समय अंतर में क्या दिखायी दिया ?

चक्रायुधकुमार : अहो देव ! उस समय आत्मा ने स्वयं अपने को देखा। दृष्टा और दृष्टिगोचर होने वाली वस्तु (शुद्धनाय और उसका विषय) ऐसे भाव - भेदरूप भिन्नता भी उसी समय नहीं था; एकाकार आत्मा सर्वगुणों के रस सहित स्वयं अपने को अनुभवता था। वह आत्मानुभूति वचनातीत एवं विकल्पातीत थी ! आश्चर्य से भी परे ऐसे परमशांत स्वरूप से आत्मा स्वयं ही प्रत्यक्ष अतीन्द्रिय ज्ञान के स्वयंस्वाद में आता था। वहाँ इन्द्रियाँ नहीं थी, राग नहीं था द्रव्य-गुण-पर्याय के कोई भेद भी नहीं थे। अकेला ज्ञायक आत्मा स्वयं अपने आनन्द में लीन होकर सर्वोपरि परमतत्त्वरूप से प्रकाशित हो रहा था।

शांतिकुमार : वाह, अद्भुत है आत्मानुभूति का वर्णन ! प्रथम वार की अपूर्व स्वानुभूति के समय तो मानो आत्मा के असंख्य प्रदेशों में आनन्द का कोई भाग भूकम्प हो रहा हो ऐसी उथल-पुथल हो जाती है, क्रोधरूपी पर्वत के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं और उसके स्थान पर शांति का गंभीर समुद्र हिलोरें लेता है। दुःख के बदले परम सुख का वेदन होता है; भव के बदले आत्मा परम सुख में बैठा हो - ऐसी तृप्ति का अनुभव होता है। अहा, उस अनुभूति में अपने सर्व गुणों का शांत- अतीन्द्रियरस एक साथ स्वाद में आता है और सिद्धसमान वीतरागी तृप्ति का वेदन होता है।

दो भाइयों के बीच स्वानुभव की सुन्दर चर्चा चल रही है और सभाजन स्वानुभूति का रसपान करने में तल्लीन है।

शांतिकुमार : उस स्वानुभूति के समय निर्विकल्प उपयोग में स्व-पर प्रकाशकपना किस प्रकार होता है ?

चक्रायुधकुमार : उस समय अंतर्मुख उपयोग में मात्र आत्मप्रकाशन है, आत्मा ही स्वज्ञेय है; स्वयं ही ज्ञाता और स्वयं ही ज्ञेय- इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक की अभिन्नता है। उस समय उपयोग में परज्ञेय नहीं होता; क्योंकि साधक का उपयोग स्व में तथा पर में-दोनों में एकसाथ नहीं लगता; एक समय एक में ही उपयोग होता है।

शांतिकुमार : तो क्या उस समय जीव को स्वपर का ज्ञान नहीं है ?

चक्रायुधकुमार : है, परन्तु उपयोग स्वज्ञेय में ही वर्तता है। जिस भेदज्ञान द्वारा परवस्तु को पररूप जाना है वह ज्ञान उस पर्याय में वर्तता अवश्य है, परन्तु लब्धरूप वर्तता है; उपयोग में तो आत्मा ही ज्ञाता और आत्मा स्वयं ही ज्ञेय है। पर से भिन्नता का ज्ञान करने के लिये कहीं परम सन्मुख उपयोग होना आवश्यक नहीं है। अपने शुद्ध आत्मा को ही स्वज्ञेय रूप से जाना और उसमें राग की या जड़की मिलावट नहीं की, वही भेदज्ञान है। ज्ञानी को वह निरंतर वर्तता है।

शांतिकुमार : धर्मों का उपयोग अंतर में हो तब तो उस अतीन्द्रिय उपयोग में इन्द्रिय विषय छूट गये हैं, परन्तु जब उसी धर्मों का उपयोग बाह्य में हो और इन्द्रियज्ञान हो तब उस बाह्य उपयोग के समय, क्या उसे मात्र इन्द्रियज्ञान ही होता, है ? अथवा अतीन्द्रियज्ञान भी होता है ?

चक्रायुधकुमार : धर्मों को बाह्य उपयोग के समय इन्द्रियज्ञान होता है

तथा उसी समय उसे उस पर्याय में अतीन्द्रियज्ञान भी चलता ही रहता है; मात्र इन्द्रियज्ञान नहीं है। हाँ उस समय उपयोग रूप से अतीन्द्रियज्ञान नहीं है, तथापि उसी पर्याय में पहले जो आत्मज्ञान किया है उसकी धारणा वर्तती है, इसलिये अतीन्द्रियज्ञान का परिणमन (लब्धिरूप से) उसी पर्याय में चल रहा है। यदि मात्र इन्द्रियज्ञान हो तो सम्यग्ज्ञान स्थिर नहीं रह सकता और मोक्षमार्ग भी नहीं चल सकेगा। इसलिये अतीन्द्रिय ज्ञान तथा अनन्तानुबंधी कषाय के अभावरूप शांति, सम्यक् श्रद्धा आदि इन्द्रियातीत शुद्धभाव धर्मों की पर्याय में सदा वर्तते ही होते हैं; और उन भावों द्वारा ही धर्मों जीव की सच्ची पहिचान होती है।

अहा चैतन्यरस से परिपूर्ण ऐसी सरस तत्वचर्चा और वह भी तीर्थकर-गणधर होने वाले दो महात्माओं के श्रीमुख से सुनकर सभाजन स्वानुभूति के गंभीर रहस्य स्पष्ट रूप से समझ गये और उसी समय अनेक जीवों ने शांत परिणाम द्वारा भी प्राप्त कर ली। तीर्थकर प्रकृति का उदय आने से पूर्व ही भगवान शांतिनाथ ने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन प्रारम्भ कर दिया, मानों उसके द्वारा प्रभु ने ऐसा बतला दिया कि धर्म का कर्मोदय के साथ कहाँ सम्बन्ध है ?

(यह चर्चा स्वानुभूति प्रिय सज्जन मुमुक्षुओं को तथा ज्ञानियों को अति रुचिकारी है।) पाठक ! स्वानुभव की इस सुन्दर चर्चा द्वारा तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि तीर्थकरों का समस्त जीवन कैसा महान, सुन्दर एवं गंभीर भावों से भरा होता है और उनके समागम से जीवों को धर्म की कैसी उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त होती रहती हैं ! धन्य है वह जीवन ! सचमुच सत्पुरुषों का संग जीवों के कल्याण का कारण होता है।

शांतिनाथ और चक्रायुध, तीर्थकर और गणधर दोनों राजकुमार युवा हुए। उनकी उपस्थिति में हस्तिनापुर के राज दरबार की शोभा बढ़ जाती थी। विश्वसेन महाराजा ने अनेक उत्तम गुणवती राजकन्याओं के साथ उनके विवाह किये। माता अचिरादेवी तो ऐसे पुत्रसुख प्राप्त करके इतनी तृप्त हो गई थीं कि अब उन्हें संसार के किसी सुख की अभिलाषा नहीं रही थी, मात्र मोक्ष की ही अभिलाषा है।

एक लाख वर्ष की आयुवाले राजकुमार शांतिनाथ जब पच्चीस हजार वर्ष के हुए तब महाराजा ने उनका राज्याभिषेक करके उन्हें हस्तिनापुर का साम्राज्य सौंप दिया और चक्रायुधकुमार को युवराज पद दिया। अहा, 'यह तीर्थकर जैसे स्वामी हमें कहाँ मिलेंगे !' ऐसा विचारकर जगत की समस्त

विभूतियाँ उनके पास आने लगीं और उनके शासन में सर्वत्र शांति व्याप्त हो गई थी। देश- विदेश के राजा उनका सम्मान करते थे।

जब महाराजा शांतिनाथ को राज्य का संचालन करते करते-दूसरे पच्चीस हजार वर्ष बीते, अर्थात् वे पचास हजार वर्ष के हुए तब अचानक उनके शस्त्र भण्डार में चक्रवर्ती पद का सूचक सुदर्शन चक्र प्रगट हुआ। उस चक्ररत्न के साथ ही दैवी छत्र, कृपाण, राजदण्ड, काकिणी, चर्म तथा चूडामणि-ऐसे कुल सात अजीब रत्न उन्हें प्राप्त हुए। उस प्रत्येक रत्न की एक-एक हजार देव रक्षा करते थे। तदुपरान्त उनके महान पुण्योदय से विशेष पुरोहित, स्थपति, सेनापति और गृहपति हस्तिनापुर में उत्पन्न हुए। छह खण्ड में श्रेष्ठ ऐसा कन्या रत्न, गजरत्न तथा अश्वरत्न विजयाब्द पर्वत में उत्पन्न हुए, और विद्याधर भक्तिपूर्वक से भेंट दे गये। वह सातों रत्न शांतिनाथ चक्रवर्ती की सेवा करने प्रगट हुए उन्हें कुल चौदह रत्न प्राप्त हुए। तदुपरान्त उस पुण्य काल में समुद्र एवं सरिताओं के संगम के निकट नौ महानिधियाँ प्रगट हुईं। उन्हें लाकर देवों ने शांतिनाथ महाराज की सेवा में अर्पित कर दी थीं। यद्यपि बाह्य में चौदह रत्न प्राप्त हुए, किन्तु उससे पहले प्रभु ने तो हजारों वर्ष पूर्व मात्र आठ वर्ष की बाल्यावस्था में ही अंतर में चौदह श्रेष्ठ रत्न प्राप्त कर लिये थे जिनमें एक सुदर्शन चक्र जैसा क्षायिक सम्यक्त्व तो पूर्वभव से ही साथ लाये थे; उसके साथ निःशंकिततादि आठ गुण तथा पाँच अणुव्रत-ऐसे चौदह रत्न प्रभु के पास पहले से ही थे; जो कर्मों को जीतने वाले तथा क्षायिकलब्धि के अखण्ड नवविधान को प्राप्त कराने वाले थे। उस अखण्ड चैतन्य निधान के समक्ष छहखण्ड के नव निधान को प्रभु तुच्छ मानते थे, तथापि वे नवनिधियाँ प्रभु को महान समझकर उनकी शरण में आयी थीं। पुण्यरूपी लौहचुम्बक के कारण जगत की सर्वोत्तम वस्तुएँ वहाँ खिंची चली आती थी। वे चक्र के बल से नहीं किन्तु पुण्य के बल से चक्रवर्ती हुए और चक्र भी पुण्य के प्रताप से ही आया था ! परन्तु वे धर्मचक्री तो सम्यक्त्वरूपी सुदर्शन चक्र के बल से ही हुए थे। छह खण्ड की विभूति प्राप्त करने के लिये उन्हें किसी के साथ युद्ध नहीं करना पड़ा, छहों खण्ड के राजा महाराजा तथा-व्यन्तरदेव भी सर्वोत्तम वस्तुएँ ले लेकर स्वेच्छा से प्रभु को भेंट देने आते थे और उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे। अरे, जिनका जन्म होते ही इन्द्र अपनी विभूति सहित सेवा करने आये और चरणों में झुक जाये, वहाँ दूसरों की तो बात ही क्या ?

प्रभु शांतिनाथ जब धर्मचक्री होंगे तब धर्मचक्र सहित भरत क्षेत्र के मात्र

आर्यखण्ड में ही विहार करेंगे, अनार्यखण्डों में नहीं जायेंगे। वर्तमान में राजचक्रवर्तीरूप से उन्होंने सुदर्शन चक्रसहित छहों खण्ड में विहार किया साथ ही वे अनार्यखण्डों में भी गये। अभी तक अन्य कोई तीर्थकर अनार्यखण्डों में नहीं गये थे। भाग्यशाली हुए अनार्यखण्ड वासी क्योंकि वहाँ के जीवों को भावी तीर्थकर के दर्शन हुए। चक्रवर्ती के रूप में प्रभु शांतिनाथ सौराष्ट्र में भी पधारे थे और पश्चात् धर्मचकी तीर्थकर के रूप में भी उनका सौराष्ट्र में भी पदार्पण हुआ था; शत्रुंजयगिरि के जिनमन्दिर में विराजमान जिनप्रतिमा आज भी उनका स्मरण कराती है। तीन खण्ड की विजय के पश्चात् प्रभु शांतिनाथ चक्रवर्ती जब विजयाब्द पर्वत पर गये तब वहाँ रहने वाले विद्याधर राजाओं ने अति हर्षपूर्वक उनका एक परमात्मा जैसा सम्मान किया। इसके साथ ही विजयपर्वत नामका श्वेत हाथी, पवनंजय नामका उत्तम अश्व तथा सुभद्रानामक सुन्दर कन्या-यह तीन सर्वोत्तम रत्न उन चक्रवर्ती महाराजा को अर्पण करके महान आदर सहित उनके शासन को स्वीकार किया। विद्याधरों में तीर्थकर उत्पन्न नहीं होते और सामान्य रूप से वहाँ कोई तीर्थकर जाते भी नहीं हैं, परन्तु इस विशेष चौबीसी में एक ही जीव एकसाथ तीर्थकर एवं चक्रवर्ती-दोनों पदवी के धारक होने से विजयाब्द पर्वत पर तथा अनार्यखण्डों में भी छद्मस्थ-तीर्थकर का पदार्पण हुआ, यह वहाँ के निवासियों के लिये एक अति आश्चर्यकारी एवं महाआनन्दकारी घटना थी। प्रभु का सुदर्शन चक्र भी धर्मचक्र जैसा ही था, क्योंकि उसके द्वारा कभी किसी जीव की हिंसा नहीं होने का प्रसंग नहीं आता था, इतना ही नहीं, वह चक्रधारी मात्र चक्रवर्ती ही नहीं थे, साथ ही तीर्थकर भी थे, इसलिये उनके 'सु-दर्शन' से भव्यजीव धर्म भी प्राप्त करते थे। प्रभु कहीं हाथी-घोड़े या रत्न आदि देने के लिये छह खण्ड में नहीं गये थे, रत्नों के ढेर तो उनके जन्म से पूर्व ही राजभवन में लग गये थे। अहा, एक भावी तीर्थकर, तीर्थकर रूप से अवतरित होने के पश्चात् छह खण्ड में विहार करके म्लेच्छ खण्ड के लोगों को भी दर्शन दें वह उनका कितना महान भाग्य ! हे शांतिनाथ ! आपने तो अनार्य जीवों को भी शांति प्रदान की फिर आर्य जीवों की तो बात ही क्या !

पंचम चक्रवर्ती प्रभु शांतिनाथ को छह खण्ड की दिग्विजय करने में आठ सौ वर्ष लगे थे। जब कि चक्रवर्ती भरतराजा को साठ हजार वर्ष लगे थे। प्रत्येक चक्रवर्ती अपनी विजयगाथा वृषभाचल पर्वत की एक शिलापर उत्कीर्ण करता है,- परन्तु वह उत्कीर्ण करने के स्थान के लिये उसे पूर्वकाल के किसी चक्रवर्ती का लेख मिटाना पड़ता है; और तब उनका गर्व उतर जाता है कि अरे, इस भरत क्षेत्र में कोई सर्वप्रथम अधिपति नहीं हूँ, मुझसे पहले तो असंख्य

चक्रवर्ती इस पृथ्वी का उपभोग कर चुके हैं और उपभोग करके छोड़ दी है। आज इस शिला पर से उनका नाम भी मिट गया है, मेरा नाम भी मिट जायेगा। परन्तु प्रभु शांतिनाथ चक्रवर्ती की बात उन सब चक्रवर्तियों से अलग थी, क्योंकि उन सब चक्रवर्तियों में कोई तीर्थकर नहीं थे जबकि यह तो चक्रवर्ती के उपरान्त तीर्थकर भी थे, उन्हें लेख लिखने के लिये किसी का नाम मिटाना नहीं पडा; उस शिला के अग्रभाग में उनके पुण्य प्रभाव से नाम लिखने का सुन्दर स्थान बन गया था। वहाँ 'इस भरतक्षेत्र के भावी सोलहवें तीर्थकर शांतिनाथ महाराजा छह खण्ड की दिग्विजय करके भरतक्षेत्र के पाँचवें चक्रवर्ती हुए।' ऐसा शिलालेख स्वहस्ते वज्र द्वारा उत्कीर्ण किया। आज भी प्रभु के हस्ताक्षर वहाँ विद्यमान होंगे।

इसप्रकार हस्तिनापुर के महाराजा शांतिनाथ अब दूसरी बार चक्रवर्ती हुए। इससे पूर्व पाँचवें भव में भी वे विदहेक्षेत्र में क्षेमंकर तीर्थकर के पुत्र वज्रायुध थे; तब चक्रवर्ती पद प्राप्त किया था और पश्चात् उसे छोड़ दिया था; परन्तु वह चक्रवर्ती पद मानों अब भी प्रभु का संग छोड़ना नहीं चाहता हो इसलिये इस भव में उनके पास आया। सच ही है, तीर्थकर समान उत्तम पुरुष का संग छोड़ना किसे अच्छा लगेगा ? देखो न, भगवान शांतिनाथ का राज्य छोड़कर तथा शरीर को भी त्यागकर मोक्ष में पहुँचे उसे असंख्य वर्ष बीत जाने पर भी, वे चक्रवर्ती और तीर्थकर पद आज भी उनका पीछा नहीं छोड़ते, इसलिये उनके साथ 'चक्रवर्ती' शांतिनाथ, 'तीर्थकर' शांतिनाथ इस प्रकार विशेषण रूप से लगे हुए ही हैं।

पंचम चक्रवर्ती प्रभु शांतिनाथ महाराज ने भरतक्षेत्र पर पच्चीस हजार वर्ष तक राज्य किया। वे मात्र बाह्य राज्य नहीं करते थे, अंतर में सम्यग्दर्शनरूपी 'सुदर्शन' चक्र द्वारा अपना चैतन्यसाम्राज्य भी बढ़ा रहे थे। परन्तु वैराग्य होने से उस समस्त वैभव को एक क्षण में छोड़कर प्रभु वन में चल गये और उससे भिन्न प्रकार का रत्नत्रयरूपी अनन्त वीतरागी वैभव प्राप्त किया।

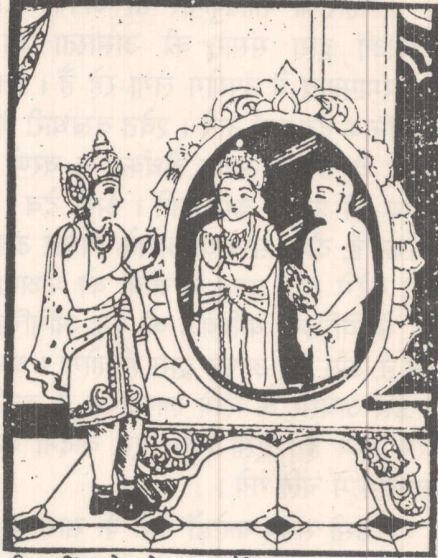
चक्रवर्ती शांतिकुमार का वैराग्य

आज महाराजा शांतिकुमार चक्रवर्ती का जन्म-दिवस मनाया जा रहा है। हस्तिनापुर में सर्वत्र महान धूमधाम चल रही है। प्रभु के अवतार को आज ७५ हजार वर्ष पूरे हुए हैं। चारो ओर मंगलवाद्य बज रहे हैं; यत्र-तत्र ध्वजा-पताकाएँ और घर-घर तोरण-बन्दनवार शोभा दे रहे हैं। देश-विदेश से उत्तम भेंट लेकर

एक हजार राजा उत्सव में सम्मिलित होने आये हैं। महाराजा शांतिकुमार भी राजदरबार में जाने की तैयारी करके दर्पण में मुँह देख रहे हैं इतने में —

‘अरे, यह क्या!’ महाराजा अचानक चौंक पड़े दर्पण के प्रतिबिम्ब में पहले जो सुन्दर रूप दिखायी दिया वह दूसरे क्षण बदल गया! ‘क्षणभर में ऐसा परिवर्तन!’ शरीर की ऐसी क्षण भंगुरता! अथवा चक्रवर्ती पद और

मुनिदशा यह दोनों रूप उन्हें दिखायी दिये उसी समय उन्हें अपने निर्मल ज्ञानदर्पण में अपने अनेक भवों के अनेक रूप दृष्टिगोचर हुए। मैं ही सर्वार्थसिद्धि में था और मैं ही धनरथ तीर्थकर का पुत्र था तथा विदेहक्षेत्र के क्षेमकर तीर्थकर का पुत्र वज्रायुध चक्रवर्ती भी मैं ही था। अरे, दूसरे भोगों की तो क्या बात! यह चक्रवर्तीपद की विभूति भी मेरे लिए कोई नवीन नहीं है। पूर्वभव में यह



भी मैं प्राप्त कर चुका हूँ, इतना ही नहीं, उसे छोड़कर मैंने साधुदशा भी ग्रहण की है, मेरे रत्नत्रयनिधान के निकट अन्य किसी निधान का क्या मूल्य है!

इसप्रकार दर्पण में दिखायी दिये प्रतिबिम्ब के निमित्त से अपने पूर्वभवों का जातिस्मरण होते ही प्रभु शांतिकुमार चक्रवर्ती वैराग्य को प्राप्त हुए और विचारने लगे— अरे, मेरे जीवन के ७५ हजार वर्ष बीत गये मुझे अभी केवलज्ञान की साधना करना है। अब इन क्षणभंगुर वैभवों में या राग में रुकना मेरे लिये उचित नहीं है। बस, मैं आज ही इस राजवैभव को छोड़कर दीक्षा अंगीकार करूँगा और जिन बनूँगा। जन्म दिवस का उत्सव बंद करो। जन्म से आत्मा की शोभा नहीं है, जन्म तो आत्मा के लिये कलंक हैं; मुझे अब यह लज्जाजनक जन्म पुनः नहीं लेना है। अब शुद्धोपयोगी होकर हम केवलज्ञान प्राप्त करके मोक्ष की साधना करेंगे। ऐसे चिन्तनपूर्वक प्रभु दीक्षा लेने का तैयार हुए।

राजसभा में खलबली मच गई। अरे इन्द्रसभा भी आश्चर्य में पड़ गई।

प्रभु राजपाट छोड़कर दीक्षा ले रहे हैं यह जानते ही सब लोग स्तब्ध रह गये। नृत्यकारों का नृत्य रुक गया और बजाने वाले के वाद्य अटक गये। क्या किया जाये ? किसी को कुछ सूझ नहीं रहा था। अरे, अभी जन्मोत्सव के समय प्रभु दीक्षा ग्रहण करेंगे ? अब क्या होता है उसकी प्रतीक्षा में सब आतुरता से प्रभु की ओर देख रहे थे।

महाराजा शांतिकुमार तो अपने वैराग्य चिन्तन में एकाग्र हैं, बारह भावनाओं द्वारा संसार की असारता का चिंतन करके, परम सारभूत निजपरमामतत्व में उपयोग लगा रहे हैं। इतने में आकाश में से ब्रह्मस्वर्ग के लौकान्तिक देव वहाँ उतरे। श्वेत वस्त्रधारी वे वैरागी देव जैन ऋषियों के समान शोभते थे; उन्होंने आकर तीर्थंकर के चरणों में वन्दन किया और उनके परम वैराग्य की प्रशंसा करने लगे। अहो देव ! आप इस भरत क्षेत्र के सोलहवें तीर्थंकर हैं; दीक्षा सम्बन्धी आपके विचार उत्तम हैं; आप दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्रगट करेंगे और जगत के जीवों को मोक्षमार्ग दर्शायेंगे। भरतक्षेत्र में अनेक वर्षों से विच्छिन्न धर्मप्रवाह को पुनः अविच्छिन्न धारा रूप करने का समय आ गया है, और वह आपके द्वारा ही होगा। धन्य है यह चारित्र का अवसर ! हम भी इस अवसर के लिये लालायित हैं, इसलिये आपके चारित्र का अनुमोदन करने आये हैं। ऐसी स्तुति एवं वन्दना के पश्चात् वे लौकान्तिक देव पुनः ब्रह्मस्वर्ग में चले गये।

उसी समय करोड़ों देवों के साथ प्रभु का जयजयकार करते हुए स्वर्ग से इन्द्र आ पहुँचे प्रभु को दीक्षावन में ले जाने के लिए स्वर्गलोक से 'सर्वार्थसिद्धि' नामक दिव्य शिविका भी वे साथ लाये थे। इस अवसर पर एक ओर तो महाराजा शांतिनाथ ने राजपुत्र को राज्य सौंपकर उसका राज्याभिषेक किया और दूसरी ओर इन्द्रों ने भगवान शांतिनाथ का दीक्षा अभिषेक कर स्वर्गलोक से लाये हुए दिव्य वस्त्राभूषण पहिनाये। आश्चर्य होता है कि जन्माभिषेक की भाँति प्रभु के दीक्षाकल्याणक के अवसर पर भी इन्द्र ने क्षीरसागर के जल से प्रभु का अभिषेक किया और स्वर्ग लोक के उत्तम वस्त्राभूषण पहिनाए ! बस भगवान शांतिनाथ का संसार में यह अन्तिम स्नान एवं अन्तिम वस्त्र थे !

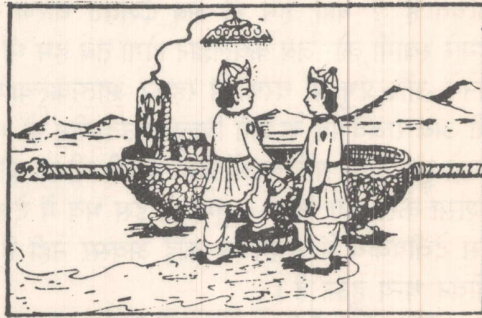
दीक्षा से पूर्व भगवान की स्तुति करते हुए, इन्द्र ने कहा— हे देव ! मोक्षगमन हेतु आपकी तीव्र वैराग्य धारा देखकर बेचारा चारित्र मोह मृत्यु के डर से काँप रहा है और आपसे मिलने को आतुर मोक्षसुन्दरी प्रसन्न हो रही है। हे प्रभो ! संसार के धर्म, अर्थ और काम यह तीन पुरुषार्थ तो आपने अनेक

भाव से सिद्ध कर लिये हैं; अब मोक्ष पुरुषार्थ का अवसर आया है यह महान आनन्द की बात है। काम पुरुषार्थ द्वारा आप कामदेव हुए, अर्शपुरुषार्थ द्वारा आप चक्रवर्ती हुए और धर्म पुरुषार्थ द्वारा आप तीर्थकर हुए; अब अन्तिम मोक्ष पुरुषार्थ द्वारा आप परमात्मा होंगे।

वैराग्यपूर्वक सबसे विदा होकर प्रभु वनगमन हेतु शिबिका में आरूढ़ हुए। वाह, शिबिका भी कैसी ? जिसका नाम 'सर्वार्थसिद्धि'। सर्वार्थसिद्धि से आये हुए भगवान पुनः 'सर्वार्थसिद्धि' में आरूढ़ हुए और अपने 'सर्वार्थ की सिद्धि' हेतु वनगमन किया। प्रभु जब शिबिका में आरूढ़ होने लगे तब इन्द्र ने अपने हाथ का सहारा दिया। कुछ लोगों का ऐसा लगा कि 'अरे, इन्द्र महाराज भूल गए; तीर्थकर को कहीं उनके सहारे की आवश्यकता पड़ती होगी ?'

परन्तु नहीं; वे भूले नहीं थे। वे इन्द्र भी महान शक्तिशाली थे; वे जानते थे कि 'मैं भी अब यह इन्द्रपर्याय पूर्ण होने पर मनुष्य होऊँगा और प्रभु के समान ही जिन दीक्षा लेकर केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष प्राप्त करूँगा। मोक्ष की साधना तो चली आ रही है और अब मेरा भी भव का अन्त निकट है' - यह बात इन्द्र ने प्रभु को अपना हाथ देकर प्रसिद्ध की। इसप्रकार प्रभु के साथ मोक्षमार्ग में सहचर हुए। वाह इन्द्रराज ! धन्य है तुम्हें ! तुम तीर्थकर प्रभु के मात्र सेवक नहीं हो, तुम तो तीर्थकर के सहचर हो।

शिबिका में बैठकर शांतिनाथ भगवान ने जब वनगमन किया तब राजाओं ने, पश्चात् विद्याधर राजाओं ने और तत्पश्चात् इन्द्रों ने वह शिबिका कंधों पर उठायी और आकाशमार्ग में चलने लगे। उस समय देवों के करोड़ों वाद्य बज रहे



थे। उनके द्वारा इन्द्र ऐसी घोषणा कर रहे थे कि भगवान शांतिनाथ अब मोहपर विजय प्राप्त करने जा रहे हैं; भगवान अब त्रिलोक का श्रेष्ठ साम्राज्य जीतने जा रहे हैं। भगवान विजयी हो ! हे जीवो ! तुम भी मोह को जीतने के लिये भगवान के मार्ग में आओ ! इन्द्र की घोषणा सुनकर लोग वैराग्य की महिमा करते थे-अहा, छहखण्ड का वैभव छोड़कर भगवान मोक्ष की साधना करने जा

रहे हैं तो वह मोक्षसुख कितना महान होगा ! इसप्रकार जीवों के परिणाम भोगों से विमुख और मोक्ष के सन्मुख हो रहे थे और भोगी से योगी बनने जा रहे शांतिनाथ भगवान पर सबकी दृष्टि केन्द्रित थी। उस समय लोग कोई शोक या रुदन न करके आनन्दपूर्वक मंगल आशीष दे रहे थे हे प्रभो ! आप मुक्ति साधना के हेतु जा रहे हैं आपकी मोक्ष साधना शीघ्र सफल हो और हमें भी मोक्ष पथ की प्रेरणा दो। शांतरस में झूलते हुए वे वैरागी महाराजा शांतिनाथ भी अति मधुर शांत दृष्टि से नगरजनों को देख लेते थे। अहा, प्रभु की पावन दृष्टि पड़ते ही प्रजाजन अपने को धन्य मानते थे कि 'प्रभु ने हमारी ओर दृष्टि तो की !'

उन चक्रवर्ती महाराजा ने वन गमन के समय उनकी हजारों रानियाँ क्या रुदन करके सिर पीटकर बैठ गई थीं ? नहीं; वे कोई सामान्य स्त्रियाँ नहीं थीं, एक भावी तीर्थकर के साथ हजारों वर्ष रहने वाली वे रानियाँ शूरवीर थी, धर्मसंस्कारी थीं और कितनी ही सम्यग्दृष्टि भी थीं। हाँ, इतना अवश्य हुआ कि अपने स्वामी के अचानक वैराग्य की बात सुनकर उन्हें आघात लगा। इन्द्रानी उन्हें आश्वासन देने का विचार कर रही थीं, इतने में तो उन रानियों ने स्वयं विवेक बुद्धि से समाधान करके शूरवीरता से दृढ़निश्चय किया कि हम जिस प्रकार भोग में स्वामी की सहचरी थीं उसीप्रकार अब योग में भी स्वामी के साथ रहेंगी। प्रभु जब वन में रहें तब हमारे लिये राजमहल में रहना क्या उचित है ? नहीं; हम भी अब देशव्रत धारण करके वैराग्य जीवन जियेंगे। हमारे स्वामी को जब केवलज्ञान होगा तब हम भी समवशरण में जाकर आर्यिका बनेंगे और प्रभु के चरणों में रहकर आत्मकल्याण करेंगे। इसप्रकार वे रानियाँ भी अब राजवैभव के प्रति बिल्कुल उदासीन हो गई थीं और देशव्रत का पालन करते हुए उत्तम श्राविकाओं जैसा वैरागी जीवन जीने लगी थीं। इन्द्रानी ने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा— तुम्हें तो इस भव में देशव्रत का अवसर है, परन्तु हमें इस देवीपर्याय में संयम का कोई अवसर नहीं है। तीर्थकर के संग में तुम्हारा जीवन धन्य हुआ है।

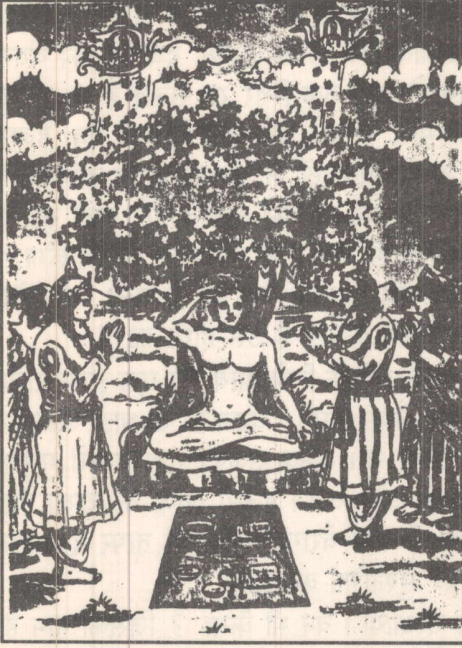
हजारों वर्ष से चक्रवर्ती की सेवा करने वाले सोलह हजार देव, प्रभु का वैराग्य देखकर खेदखिन्न होकर हाथ जोड़े खड़े थे। अरे, जिनकी सेवा से हमें आनन्द मिलता था वे हमारे स्वामी तो दीक्षा ले रहे हैं; हम भी यदि मनुष्य होते तो अपने स्वामी के साथ ही दीक्षा ग्रहण करते ! अब तो, जब वे केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मचक्रकी बनेंगे तब समवशरण में जाकर उनकी सेवा करेंगे और दिव्यध्वनि सुनकर आत्मकल्याण करेंगे।

चक्रवर्ती के चौदह रत्नों में से सेनापति आदि रत्नों ने तो प्रभु के साथ दीक्षा ले ली; सुदर्शन चक्रादि अजीव रत्नों के अधिष्ठाता देव प्रभु को वंदन करके चले गये। अरे, पुण्यसंयोग तो कहाँ तक स्थिर रह सकते हैं ? मुमुक्षु जीव तो स्वेच्छा से उसे छोड़कर मोक्ष में चले जाते हैं। जिसकी एक हजार देव सेवा करते थे वह गजरत्न, अर्थात् चक्रवर्ती के चौरासी लाख हाथियों में श्रेष्ठ हाथी, वह भी विचारने लगा कि-अरे, मुझ पर आरूढ़ होने वाले स्वामी तो सब छोड़कर वन में जा रहे हैं फिर मैं यहाँ राज्य में रहकर क्या करूँगा ? ऐसा विचारकर वह विजय हाथी भी प्रभु के पीछे-पीछे वन में चला गया और वैराग्यपूर्वक प्रभु के निकट ही रहने लगा। धन्य है उस हाथी को !

प्रभु के जन्मोत्सव में सम्मिलित होने के लिये आये हुए एक हजार राजा भी प्रभु के साथ ही दीक्षा लेने हेतु तैयार हुए। चक्रवर्ती के भाई चक्रायुध कुमार भी दीक्षा ग्रहण करने हेतु तत्पर थे। अनेक राजपुत्र तथा हजारों मुमुक्षु जीव भी दीक्षा लेने के लिये वन की ओर चले। हजारों जीवों की दीक्षा हेतु यह वन यात्रा शोभायमान हो रही थी तथा वैराग्य भावना में तत्पर देव उस दीक्षाकल्याणक की वैराग्य यात्रा को सुशोभित कर रहे थे।

प्रभु की शिविका दीक्षावन में आयी। वन भी कैसा ? जिसका नाम है 'सहस्राभ्रवन !' जिसप्रकार गिरनार में सहस्र-आभ्रवन नेमिनाथ प्रभु की दीक्षा का धाम है, उसीप्रकार हस्तिनापुर का यह सहस्राभ्रवन शांतिनाथ प्रभु की दीक्षा का धाम है। जहाँ आम के वृक्ष हैं और उन पर अति सुन्दर हजारों आम्रफल झूल रहे थे। आम्रवृक्ष भी हर्षित हो रहे हैं कि वाह, प्रभु जब मुनि होकर यहाँ आत्मध्यान में विराजमान होंगे तब हम उन पर शीतल छाया फैलाकर उनकी सेवा करेंगे और प्रभु शांतिनाथ के सान्निध्य से हमारे वन में सर्वत्र परमशांति फैल जायेगी। इसप्रकार वे आम्रवृक्ष 'अशोक वृक्ष' जैसे गौरव का अनुभव कर रहे थे।

वैरागी महाराज शांतिनाथ पालकी से उतरे और एक शुद्ध शिला पर उत्तराभिमुख बैठ गये। बाजे शांत हो गये, कोलाहल थम गया, विभाव भी शांत हो गये, सारे वन में शांति छा गयी। प्रभु शांतिनाथ ने शांतभाव धारण करके मस्तक से मुकुट उतारा, गले से हार निकाल दिया, वस्त्राभूषण उतार दिये और उपयोग को स्थिर कर, हाथ जोड़कर ॐ नमः सिद्धेभ्यः ऐसे उच्चारण पूर्वक सिद्ध भगवन्तों को नमस्कार किया। छद्मस्थ दशा में प्रभु का यह अन्तिम वाक्य संसार दशा में यह उनका अक्षरात्मक वचन; पश्चात् छद्मस्थ मुनिदशा में वे



सम्पूर्ण मौन रहे और केवली होने पर वाणी निकली, यह तो निरक्षरी दिव्यध्वनि थी। सिद्धों को वन्दन करने के पश्चात् प्रभु ने सिर के काले घुघराले कोमल केशों का स्वहस्त से लोंच किया, साथ ही साथ भीतर के मोह का लुचन कर दिया। अहा, शरीर से उदासीनता की वह चरम सीमा थी। बाह्य तथा अभ्यंतर परम दिगम्बर हुए वे निर्ग्रन्थ-मुनिराज तत्क्षण शुद्धोपयोगी होकर आत्मध्यान में एकाग्र हो गये। उपयोग की विशुद्धता द्वारा अपनी आत्मा को सामयिक चारित्र में स्थिर

किया। तीर्थंकर मुनिराज का चारित्र उत्तम सुविशुद्ध होता है, उसमें कोई दोष नहीं लगता, इसलिये उनका छेदोपस्थापना या प्रायश्चित्त नहीं होता।

ध्यान में स्थिर होते ही उन परम श्रमण को सातवाँ गुणस्थान तथा चौथा ज्ञान प्रगट हुआ। ज्ञान के साथ सर्वोत्कृष्ट ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रगट हुईं और कषायभाव दूर भागे। मिथ्यात्व एवं चार कषाय तो असंख्य वर्ष पहले पूर्वभवों में ही सर्वथा नष्ट हो गये थे; दूसरे चार कषाय आठ वर्ष की बाल्यावस्था में ही प्रभु ने छोड़ दिये थे; तीसरे चार कषाय अभी-अभी ध्यान के समय दूर हो गये और चौथे चार कषाय भी निर्जीव समान होकर मृत्युशैथ्या पर पड़े हैं। प्रभु शांतिनाथ वीतरागता से सुशोभित हो उठे चक्रवर्तीत्व के काल में जो शोभा थी उसकी अपेक्षा मुनिदशा में उनकी शोभा एकदम बढ़ गई। सच ही है वीतरागता में जो शोभा है वैसी कहाँ से होगी? निर्ग्रन्थता में जो सुख है वह परिग्रह में कहाँ से होगा? नहीं हो सकता। इसलिये हे प्रभो! आपने चक्रवर्ती पद छोड़ा वह कोई दुःख की बात नहीं है; आपने तो उससे भी महान ऐसा परमेश्वर पद प्राप्त करने के लिये चक्रवर्ती पद छोड़ा है। परम अतीन्द्रिय सुख प्राप्त करने के लिये इन्द्रिय सुखों का त्याग किया है; चंचल एवं अशुचिपूर्ण ९६०००

रानियों को छोड़कर स्थिर एवं पवित्र ऐसी मुक्तिसुन्दरी में आसक्त हुए हैं, मोक्ष के तीन रत्नों को प्राप्त करके आपने संसार के चौदह रत्न छोड़े हैं। इसप्रकार हे प्रभो ! आपने जो त्याग किया उसकी अपेक्षा अधिक ग्रहण किया है। वास्तव में आप ही हेय-उपादेय का परम विवेक करने वाले हैं। आप स्वयं मोक्षमार्ग हो, आप स्वयं ही धर्म हो।

प्रभु शांतिनाथ ने चक्रवर्ती पद से निकलकर परमेष्ठी पद में प्रवेश किया। बारह भव के साथी ऐसे उनके भाई चक्रायुधकुमार ने भी प्रभु के साथ ही जिनदीक्षा ग्रहण की। अन्य हजारों राजा भी दीक्षा लेकर मुनि हो गये। जो मुनि नहीं बन सके ऐसे लाखों जीवों ने वैराग्यपूर्वक श्रावक के व्रत लिये; कुछ तिर्यच जीव भी वैराग्य पाकर व्रतधारी हुए।

‘अरे, यदि बाह्य विषयों में सुख होता तो इन चक्रवर्ती महाराजा के समक्ष तो जगत के सर्वोत्कृष्ट भोगोपभोग विद्यमान थे, फिर उन्हें स्वेच्छा से त्यागकर वे वनवासी मुनि क्यों होते ? और आत्मध्यान क्यों करते ? उस चक्रवर्ती पद की अपेक्षा इस समय मुनिदशा में वे अधिक सुखी हैं-यह स्पष्ट दिखायी देता है; इसलिये निश्चित होता है कि बाह्यसामग्री में, विषयभोगों में या उनके संग में कहीं सुख है ही नहीं। सुख तो चैतन्यस्वरूप की अनुभूति में ही है। सुख आत्मा का स्वभाव है और उसके ध्यान में जो अतिन्द्रिय शांति का वेदन होता है वही सच्चा पारमार्थिक सुख है।’

भगवान शांतिनाथ की ध्यानदशा देखकर अनेक जीव आत्मा के अतीन्द्रिय सुख की प्रतीति करके सम्यग्दर्शन को प्राप्त हुए। तीर्थंकर प्रभु के दीक्षाकल्याणक का मंगल महोत्सव अनेक जीवों के कल्याण का कारण हुआ।

मुनिराज शांतिनाथ बारम्बार शुद्धोपयोगी होते थे। दीक्षा के पश्चात् दो दिन के उपवास करके वे ध्यान के प्रयोग में रहे। पश्चात् तीसरे दिन आहार हेतु मन्दिरपुरी में पधार। अहा, साक्षात् मोक्षमार्गरूप ऐसे अद्भुत उत्तमसुपात्र को अपने प्रांगण में देखते ही राजा सुमित्र को अपार हर्ष हुआ। उसने भक्तिसहित पड़गाहन किया- ‘प्रभो ! पधारो...पधारो...पधारो !’ मुनिराज शांतिप्रभु के खड़े रहने पर सुमित्र राजा ने अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रदक्षिणा करके पुनः पुनः नमस्कार किया। उस समय उन राजा का मन शुद्ध था, वचन शुद्ध था, काया शुद्ध थी, आहार-जल शुद्ध थे; उन्होंने भक्ति से प्रभु के चरणों का प्रक्षालन किया, साथ ही अपने पाप भी धो डाले; मुनिराज को उच्चासन पर विराजमान करके अर्घ्य द्वारा पूजा की। इसप्रकार नवधाभक्तिसहित मुनिराज के कर कमल में आहारदान

दिया। उस समय उन्हें परम प्रसन्नता हो रही थी, होगी भी क्यों नहीं ! क्योंकि तीर्थंकर को मुनिदशा में प्रथम आहारदान दाता के रूप में उन्हें तद्भव मोक्षगामीपना प्राप्त हुआ था। अपने मोक्ष से किसे आनन्द नहीं होगा ? ! उस आहारदान के हर्षोपलक्ष में उसी समय आकाश में देवों द्वारा दुंदुभि वाद्य बज रहे थे; रत्नवृष्टि हो रही थी; अहो दानं महादानं कहकर देव उस दान की प्रशंसा कर रहे थे; शीतल वायुससहित सुगन्धित जल की बूँदें गिर रही थीं, और देव पुष्पवर्षा कर रहे थे। वहाँ दान उत्तम था, दाता महान थे और सुपात्र तो सर्वोत्कृष्ट थे, इसलिये पुण्यप्रभाव से तत्काल वहाँ पंचाश्चर्य प्रगट हुए।

अहा, कुछ ही समय पूर्व जो छहखण्ड के अधिपति थे और सुवर्ण एवं रत्न के थाल में भोजन लेते थे, वे आज सर्वथा वस्त्र-पात्र के परिग्रह रहित होकर, रागरहित होकर हाथ के पात्र में खड़े रहकर आहार करते हैं। वाह, जैन मुनियों की वीतरागता ! वह जगत में अद्वितीय है। अट्टाईस मूलगुणों के धारी उन शुद्ध दिग्म्बर मुनिराज का चित्त अतीन्द्रिय आनन्द के भोग में ऐसा प्रीतिवान बन गया था कि पूर्व में भोगे हुए चक्रवर्ती पद के भोगों का उन्हें स्मरण भी नहीं होता था। पाँच इन्द्रियों के विषयों का तथा क्रोधादि कषायों को उन्होंने जीत लिया था। बाईस प्रकार के परीषह सहन करने का उनमें सामर्थ्य था यद्यपि वे तीर्थंकर होने से दंशमशक-अदर्शन आदि अनेक उपसर्ग-परीषह तो उनके आते ही नहीं थे। पुण्य प्रताप के सर्व ऋतुएँ तथा धरती उनके अनुकूल बन जाती थी, इसीलिये शीत-उष्ण या काँटे-कंकरादि परीषह उनके आते ही नहीं थे, तथा क्षुद्र जीव-जन्तु वहाँ उपद्रव नहीं करते थे, उल्टे उनके सानिध्य में दूसरों के उपद्रव भी दूर हो जाते थे।

परम साम्यभाव से कहीं भी राग के प्रतिबंध बिना आत्मसाधना करते-करते उन शांतिनाथ मुनिराज ने सोलह वर्ष तक सुक्षेत्र में विहार किया। वे जहाँ-जहाँ जाते वहाँ-वहाँ सैकड़ों कोस तक सर्व जीव शांत परिणामी हो जाते थे; कहीं भी वैर-विरोध, अशांति या दुष्काल नहीं रहता था। सर्व जीवों के अंतर में मैत्रीभाव का पवित्र झरना बहता था। वहाँ सिंह से लेकर शशक आराम से सोते थे; गाय का बछड़ा सिंहनी को अपनी माता समझकर उसका स्तनपान करता था और सिंहनी उसे जिन्हा से चाँटकर प्यार करती थी। सिंहनी का बच्चा प्रेम से गाय का दूध पीता और गाय निर्भय होकर प्रेमपूर्वक उसे देखती रहती थी। नेवला और सर्प दोनों साथ खेलते थे। प्रभु के सान्निध्य में सर्व जन अति वात्सल्यपूर्वक एक-दूसरे की धर्मभावना पुष्ट करते थे। भगवान शांतिनाथ मुनिदशा में यद्यपि

मौन रहते, तथापि उनके शांत नेत्रों एवं उपशांत मुद्रा से झरते हुए शांतरस को देखकर भव्यजीव आत्मा के शांत स्वभाव का दर्शन कर लेते थे। आत्मा का स्वभाव क्रोधादि रहित कैसा शांत है-वह प्रभु की मुद्रा मौन रहकर भी दर्शा रही थी। यद्यपि प्रभु एकलविहारी-जिनकल्पी थे, तथापि चक्रायुध आदि मुनिवर और वह हाथी भी उनके सानिध्य में ही रहा करते थे। तीर्थकर का सहवास छोड़कर दूर रहना किसे अच्छा लगेगा ?

इस प्रकार सोलह वर्ष तक मौन रूप से आत्मसाधना करके मोक्षमार्ग में आगे बढ़ते-बढ़ते शांतिनाथ मुनिराज पुनः हस्तिनापुर के सहस्राग्रवन में पधारे। हस्तिनापुर के प्रजाजन अपने महाराजा का मुनिदशा में देखकर अत्यन्त हर्षित हुए। जहाँ दीक्षा ली थी, उसी वन में आकर मुनिराज शांतिनाथ ध्यानस्थ हुए। साथ में चक्रायुध आदि हजारों मुनिवर भी वैराग्वन में आत्मध्यान कर रहे थे।

केवलज्ञान

पौष शुक्ला एकादशी का मंगल दिन है; हस्तिनापुर के सुन्दर उद्यान में हजारों आम्रवृक्ष असमय में पौष मास में ही आम्रफलों के भार से झुक गये हैं, क्योंकि मुनिराज शांतिनाथ प्रभु उस वन में विराजमान हैं और आत्मध्यान कर रहे हैं। पहले सुदर्शनचक्र द्वारा छह खण्ड को जीतने वाले प्रभु, अब मुनिदशा में शुद्धोपयोग द्वारा मोह विजय प्राप्त करने तथा अखण्ड ज्ञान को साधने के लिये तीन करण द्वारा सुसज्ज हो गये हैं। 'मोह का सर्वथा नाश करने तथा नव क्षायिकलब्धियों सहित केवलज्ञान-साम्राज्य की प्राप्ति में यह पुण्यजन्य ऐसा सुदर्शनचक्र काम नहीं आयेगा'-ऐसा समझकर प्रभु ने उस चक्र को छोड़ दिया और शुक्लध्यानरूपी धर्मचक्र धारण किया। उस चक्र के तेज से भयभीत होकर कर्म की अनेक प्रकृतियाँ नष्ट हो गई, अधिकांश कर्मप्रकृतियों का आना रुक गया; अरे, मेघरथ के तीसरे भव से प्रारम्भ हुई और असंख्य वर्षों से सतत् बाँधती हुई ऐसी वह तीर्थकर प्रकृति भी अब अटक गई थी। मोक्ष की सम्पूर्ण साधना में सतत् उद्यमवंत उन महामुमुक्षु को अब किंचित् भी कर्मबंधन कैसे रुचता ? वे मोह की अधिकांश सेना का नाश तो पहले शुद्धोपयोग द्वारा कर ही चुके थे, शेष साधारण मोह को मारने में क्या देर ? शुक्लध्यान चक्र द्वारा शीघ्रता से संज्वलन कषाय पर प्रहार करके उसे नष्ट कर दिया और वीतरागता प्राप्त कर ली। राग के अत्यंत अभाव के कारण अब उन्हें किसी कर्म का बंधन

नहीं होता था, मात्र निर्जरा ही होती थी। इस प्रकार मोह के विशाल समुद्र को पार कर लेने के पश्चात् तुरन्त पुनः वह शुक्लध्यान चक्र चलाकर, शेष तीनों घातिकर्मरूपी 'अरि' को एकसाथ 'हनकर' प्रभु 'अरिहंता' हुए और नव क्षायिकलब्धियों के अक्षयनिधान सहित केवलज्ञान-साम्राज्य प्राप्त कर लिया। पहले चक्र द्वारा छह खण्ड साधने में प्रभु को ८०० वर्ष लगे थे; जबकि साधु होकर शांत भावरूप इस धर्मचक्र द्वारा केवलज्ञान का अखण्ड साम्राज्य तो उन्होंने मात्र सोलह वर्ष में ही साध लिया !

हे अरिहंता ! हमें आश्चर्य तो इस बात को होता है कि मोह जैसे महान शत्रु को तथा घातिकर्मों जैसे बैरियों का घात करने में आपने किंचित क्रोध नहीं किया, क्रोध के बिना ही मात्र शांत वीतराग भाव द्वारा आपने उन्हें नष्ट कर दिया। वास्तव में वीतरागता की शक्ति कोई आश्चर्यकारी है और आपका 'शांति' नाम सार्थक है। जिसप्रकार हिम-प्रताप अपनी शीतल शक्ति द्वारा भी बड़े-बड़े वृक्षों को जला देते हैं, उसीप्रकार हे देव ! आपने भी वीतरागी शांतभाव की अद्भुत शक्ति द्वारा महामोक्ष शत्रु को क्षणमात्र में नष्ट कर दिया। उसके द्वारा आपने हमें ऐसा समझाया कि 'शांति' में जितनी शक्ति है उतनी क्रोध या राग में नहीं है। मोक्ष की साधना शांतभाव द्वारा ही होती है, क्रोध के या राग के द्वारा नहीं। इसप्रकार आपकी साधना ने हमें शांति और क्रोध के बीच भेदज्ञान कराया है। जो महान कार्य आपने वीतरागता द्वारा किया वह कार्य क्या कोई क्रोधी या रागी जीव कर सकता है ?-कदापि नहीं। अहो देव ! आप वीतरागता के बल से अपने में से ही केवलज्ञान निधान प्रगट करके स्वयंभू परमात्मा हुए; अनन्त चतुष्टय द्वारा आप धर्मसाम्राज्य के नायक धर्मचक्रवर्ती हुए; इन्द्रियों से पार होकर आप स्वयं परिपूर्ण ज्ञान एवं सुखरूप परिणमित हो गये। वह दशा परम इष्ट है इसलिये आपकी स्तुति द्वारा हम उसका अनुमोदन करते हैं।

भगवान शांतिनाथ सर्वज्ञ होकर ऐसे ज्ञान एवं सुखरूप परिणमित हुए। तीनों लोक में आनन्दमय आश्चर्य से खलबली मच गई। उसी समय तीर्थंकर प्रकृतिरूपी दासी प्रभु की सेवा के लिये इन्द्रादि देवों को बुला लायी। देवों ने आकर भक्तिपूर्वक उन सर्वज्ञ परमात्मा की पूजा की और सोलहवें तीर्थंकर का केवलज्ञान कल्याणक महोत्सव मनाया। कुबेर ने स्वर्गलोक की उत्तम सामग्री द्वारा दिव्य शोभायुक्त समवशरण की रचना की। इन्द्रानी ने उसमें रत्नों का चौक पूरा। करोड़ों दुंदुभि वाद्य मधुर स्वर में मानो भव्य जीवों को बुला रहे थे आओ रे आओ हे जीवो ! जिन्हें मोक्ष साधना हो वे यहाँ आओ ! आत्मकल्याण

हेतु अन्य समस्त कार्य छोड़कर यहाँ आओ। आओ और इन शांतिनाथ प्रभु की सेवा करो। आत्मा के अनन्त-अक्षय निधान देखना हो तो इन प्रभु के वीतराग मार्ग का अनुसरण करो।

हस्तिनापुरी के भाग्यवान नगरजनों ने शांतिनाथ प्रभु के गर्भ-जन्म-तप ऐसे तीन कल्याणक पहले देखे थे और आज अपनी नगरी में चौथे कल्याणक का महोत्सव प्रत्यक्ष देख रहे थे। आह, धन्य है वह नगरी और धन्य हैं वे जीव !

जिस समय शांतिनाथ प्रभु को पंचमज्ञान प्रगट हुआ उसी समय उनके भ्राता चक्रायुध मुनिराज का भी उन्हीं के सान्निध्य में चौथा ज्ञान प्रगट हुआ। दो सहोदरों में से एक तीर्थंकर और दूसरे गणधर। दिव्य समवशरण की बारह सभाएँ देवों, मनुष्यों एवं तिर्यचों से भर गई। आश्चर्य है कि वहाँ स्थान-स्थान के माप की अपेक्षा बैठनेवाले जीवों की संख्या अत्यधिक होने पर भी किंचित् भीड़ नहीं थी। प्रभु के दर्शनों में सब इतने लीन थे कि किसी को कोई आकुलता नहीं थी। सर्वांग से खिरती हुई प्रभु की दिव्यध्वनि सबने शांतिपूर्वक श्रवण की। प्रभु ने आत्मतत्त्व की परम गंभीर महिमा दशति हुए कहा—

हे जीवो ! यह आत्मतत्त्व स्वयं स्वतंत्र सत् है; वह अनादि- अनन्त अपने उत्पाद-व्यय-ध्रुवस्वरूप में वर्तनेवाला है। ज्ञान और आनन्द उसका मुख्य स्वभाव है-जोकि जीव के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। प्रत्येक आत्मा अपने स्वकीय असंख्य प्रदेश में रहकर प्रतिसमय जानता और परणमता है इसलिये वह 'समय' है।

वह ज्ञान और परिणमनस्वरूप आत्मा, स्व-पर का भेदज्ञान करके जब से पर से विभक्त अपने ज्ञानस्वरूप को जानता है और उसी में एकत्वरूप से परिणमता है तब तक वह 'स्वसमय' है, वही सुंदर है, वही 'शुद्ध' और सुखी है। तो भी वह आत्मा जब तक अपने ज्ञानस्वरूप को भूलकर परको जानता हुआ पर के साथ अर्थात् रागादि के साथ एकत्वरूप परिणत होता है तब तक वह परसमय है, उसमें विसंवाद है, अशुद्धता है, और दुःख है।

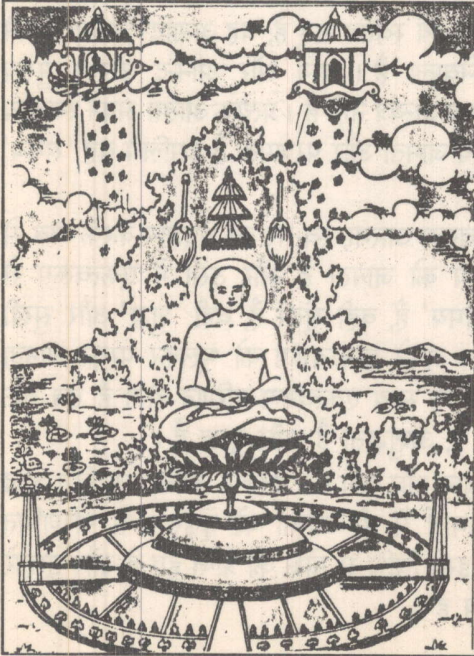
इसलिये हे जीवो ! तुम ज्ञान और राग का भेदज्ञान करके, रागरहित शुद्ध सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग में ही आत्मा को दृढरूप से परिणमित करो। हम सब अरिहंत तीर्थंकर इसी विधि से मोक्ष को प्राप्त हुए हैं और तुम्हारे लिये भी मोक्ष का एक ही उपाय है।

बस, शुद्धस्वद्रव्य में ही मोक्ष मार्ग का समावेश है। राग का कोई अंश उसमें नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव से परिणमित आत्मा स्वयं ही मोक्ष का कारण है और स्वयं ही मोक्षरूप है। इस प्रकार 'शुद्ध आत्मा' ही साध्य है। ऐसे निज परम तत्व को जानकर उसी की अन्तर्मुख श्रद्धा और उसी में उपयोग को एकाग्र करके स्थिर हो जाआ तुम्हें परम सुख प्राप्त होगा।

अहाहा, कैसी मधुर है यह वीतरागवाणी ! तीर्थकर परमात्मा का ऐसा धर्मोपदेश सुनकर अनेक जीव आत्मज्ञान को प्राप्त हुए, अनेक जीवों ने श्रावकधर्म तथा अनेकों ने मुनि धर्म अंगीकार किया। पन्द्रहवें तीर्थकर धर्मनाथ प्रभु के मोक्षगमन पश्चात् लगभग तीन सागरोपम का दीर्घकाल व्यतीत होने पर सोलहवें शांतिनाथ तीर्थकर हुए। उनकी धर्मसभा बड़ी विशाल थी।

भगवान शांतिनाथ का समवशरण

समवशरण अर्थात् धर्मचक्रवर्ती-तीर्थकर प्रभु का धर्मदरबार ! उसकी अद्भुतता का क्या कहना ! उस धर्म-दरबार में धर्म का तो महा भण्डार है और पाप का प्रवेश भी नहीं है; वहाँ पापी जीव नहीं होते। आनेवाले पापी जीव भी



प्रभु के दर्शन से धर्मी बन जाते हैं और शांति प्राप्त करते हैं। अहो, शांतिनाथ भगवान ने वीतराग धर्म के उपदेश द्वारा जगत के जीवों को अपूर्व शांति प्रदान की उन्हें नमस्कार हो ! पन्द्रहवें तीर्थकर के शासन के अन्तिम काल में लाखों-करोड़ों वर्ष तक धर्म का जो विच्छेद था वह शांतिनाथ प्रभु के अवतार से दूर हुआ और पुनः जैनधर्म की परम्परा चलने लगी; वह आज तक अविच्छिन्न धारा से चल रही है; बीच में कहीं विच्छेद नहीं हुआ।



समवशरण में प्रभु का धर्मापदेश पूर्ण होने पर इन्द्रों ने १००८ मंगल नामों द्वारा प्रभु की स्तुति की। हे देव ! इन्द्र को आपकी गुणमहिमा प्रसिद्ध करने के लिये भले ही १००८ नाम ढूँढना पड़े परन्तु हम तो मात्र एक 'सर्वज्ञता' द्वारा ही आपकी सर्वगुणमहिमा को जान लेते हैं। हे प्रभो ! जहाँ आपकी सर्वज्ञता को लक्ष में लेते हैं वहाँ आपके अनन्त गुणों की स्वीकृति एकसाथ हो जाती है। वचन द्वारा तो संख्यात ही गुण और वे भी क्रमशः बोले जा सकते हैं,

जबकि सर्वज्ञातादि किसी भी गुण द्वारा आपकी अभेद अनुभूति करने पर आपका सर्वगुणसम्पन्न आत्मा हमारी स्तुति में हमारी अनुभूति में समा जाता है और शुद्धात्मा का अनुभव होकर हमारे मोह का क्षय हो जाता है। अहो देव ! आपके उपदेश से सिंह और सर्प जैसे क्रूर तिर्यच भी विशुद्ध परिणामों द्वारा स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं, तो फिर हमारे जैसा भव्य मनुष्य मोक्ष प्राप्त करे इसमें क्या आश्चर्य है !

प्रभो ! आप तो शुद्धात्मा में से ही उत्पन्न पूर्ण अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करने वाले हो; आपको मोह नहीं है इसलिये आहार-जल का ग्रहण भी नहीं है। केवलज्ञान के साथ आपका यह एक आश्चर्यजनक अतिशय है। पच्चीस हजार वर्ष तक अरिहंत अवस्था में मनुष्य शरीर सहित विचरने पर भी आपको कदापि क्षुधा-तृषा की वेदना नहीं हुई और कभी आहार-जल को ग्रहण नहीं किया। आहार के बिना ही आपमें अनन्तवीर्य एवं अनन्तसुख था। हाँ, यद्यपि आपको अभी वेदनीय कर्म था, परन्तु मोहकर्म का संग न होने से वह अकेला बेचारा मृत समान था, आत्मा में उसका कोई प्रभाव नहीं था; और शरीर की सुन्दरता को सुरक्षित रखने वाले पुण्य परमाणु आहार के बिना भी स्वयंमेव

शरीर में आ जाते थे। प्रभो ! आपकी सर्वज्ञाता या आपके पूर्णसुखों को जो नहीं जानते-ऐसे अज्ञानीजनों की बुद्धि में आपके केवलज्ञान का यह अतिशय नहीं आ सकता, क्योंकि वे विषयरहित आत्मिक सुखों नहीं जानते। तथा हे जिनेश ! आप लोकोत्तर हैं, सामान्य मनुष्यों जैसे नहीं हैं इसलिये आप के शरीर की परछाई नहीं पड़ती, नेत्रों की पलकें नहीं झपकतीं, आप पृथ्वी पर नहीं चलते, आप चारों दिशा से दिखने वाले चतुर्मुख भगवन्त हैं और एक साथ सब भाषाएँ बोलने पर भी आपके ओष्ठ नहीं हिलते, यह भी क्या आश्चर्य की बात नहीं है ? ऐसा आश्चर्य है केवली परमात्मा ! आपके सिवा अन्यत्र कहाँ है ?

तथा अचित्य सामर्थ्यवान सर्वज्ञप्रभु ! सर्व पदार्थों का जानने में आपको ज्ञान का क्रम नहीं है, आपका ज्ञानअक्रम है; वैसे ही आकाश में मंगल विहार के समय आपके पंगों में भी क्रम नहीं है, क्रमशः डग भरे बिना आपका गमन है। इसप्रकार ज्ञान और गमन दोनों में आप क्रम रहित हैं। आपके श्रीविहार के समय आगे-आगे चलनेवाला आपकी धर्मविजय की घोषणा करता हुआ एक हजार आरों वाला रत्नमय धर्मचक्र, करोड़ों वाद्यों तथा करोड़ों ध्वजाओं के साथ चलता है। चक्रवर्ती पद के समय तो आपके चक्र की सेवा एक हजार देव करते थे, वर्तमान में तीर्थकर पद के समय असंख्य देव आपके धर्मचक्र की सेवा कर रहे हैं, तीनों लोक में उसका प्रभाव वर्तता है।

हे शांतिनाथ प्रभो ! पूर्वभवों में आप दो बार तीर्थकर के पुत्र हुए। इन्द्रसभा में आपकी प्रशंसा हुई, महावीर तीर्थकर के आत्मा के साथ भी त्रिपृष्ठ के भव में आपका मामा-भानजा का सम्बन्ध हुआ। आप बलभद्र हुए, चक्रवर्ती भी हुए, इन्द्र हुए, सर्वार्थसिद्धि में भी गये, अन्तिम भव में पुनः दूसरी बार चक्रवर्ती हुए, कामदेव हुए, और अन्त में जिनदेव होकर तीर्थकर भी हुए; और अब सर्वोत्कृष्ट सिद्धपद प्राप्त करने की तैयारी है। इस भरतक्षेत्र में २५००० वर्ष तक तीर्थकर रूप में मंगल विहार करके आपने मोक्ष का मार्ग खोला है। हे देव ! आपके अवतार से पूर्व सात तीर्थकरों के शासन के अंत भाग में धर्म का विच्छेद हुआ, परन्तु आपके द्वारा भी प्रकाशित मोक्षमार्ग निर्बाधरूप से आज पंचमकाल में भी अविच्छिन्न रूप से चल रहा है। इससे पुराणकार गुणभद्रस्वामी कहते हैं कि हे बुद्धिमान जीवो ! तुम शांतिनाथ की शरण लो; क्योंकि आज जो धर्मशासन प्रवर्तमान है, जो मोक्षमार्ग चल रहा है और उसके आद्यगुरु भगवान शांतिनाथ हैं।

भगवान शांतिनाथ चक्रवर्ती पद में २५००० वर्ष रहे, और उसे छोड़ने

के पश्चात् धर्मचक्रवर्ती होकर तीर्थंकर पद में भी २५००० वर्ष रहे। अन्त में, जिस प्रकार चक्रवर्ती पद का त्याग किया उसीप्रकार अब तीर्थंकर पद को त्यागकर प्रभु मोक्षगमन के लिये तैयार हुए। जब उनकी आयु एक मास शेष रही तब वे सम्मोदशिखर पर आकर स्थिर हुए। विहार एवं वाणी थम गयी। ज्येष्ठ कृष्णा चतुर्दशी के दिन तृतीय शुक्लध्यान द्वारा समस्त योगों का निरोध करके प्रभु अयोगी हुए और दूसरे ही क्षण चतुर्थ शुक्लध्यान में प्रवेश किया। कर्म की १४८ प्रकृतियों में से समस्त घाति कर्मा सहित कुल ६३ प्रकृतियों का सर्वथा नाश तो प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त करने से पूर्व ही कर दिया था और शेष १३ कर्म प्रकृतियों का चरम समय में नाश करके प्रभु मुक्त हुए, सिद्ध हुए, अशरीरी हुए, कर्मरहित हुए, विभावरहित हुए, पूर्ण शुद्धस्वभावरूप परिणमित हुए, अनादि संसारतत्व को सर्वथा छोड़कर स्वयं अभूतपूर्व ऐसे मोक्षतत्व रूप हो गये और सिद्धालय में जाकर विराजमान हुए। वहाँ सर्व चैतन्यगुण ही उनका शरीर है, चैतन्यस्वभाव की निर्बाधता ही उनका सर्वोत्कृष्ट परमसुख है। अब वे अनन्तानन्त काल तक सदा सिद्धरूप ही रहेंगे। अहा, उस सिद्धपद की अपार महिमा स्वानुभव द्वारा ही समझ में आती है। समस्त संत उस सिद्धपद को चाहते हैं और उसकी अद्भुत महिमा गाते हैं।

प्रभु शांतिनाथ के साथ उनके भ्राता चक्रायुध गणधर भी केवलज्ञान प्रगट करके मोक्ष को प्राप्त हुए। भवभवान्तर के साथी मोक्षगमन में भी साथ रहे धन्य है उनका जीवन ! प्रभु के मोक्षगमन से सम्मोदशिखर की जो टूंक पावन हुई उसका नाम 'कुन्दप्रभा' टूंक है। वाह, कितना सुन्दर नाम और कैसा आनन्द का धाम !

उस कुन्दप्रभा टूंक के ऊपर सिद्धालय में, लोक के सर्वोच्च स्थान पर वहाँ पूर्वकाल में अनन्तानन्त सिद्ध जीव विराजते थे उनके सान्निध्य में वे भी शाश्वत् रूप से विराजमान हुए और वर्तमान में भी विराज रहे हैं।

प्रभुश्री शांतिनाथ के मोक्षकल्याणक प्रसंग पर इन्द्र ने निर्वाण महोत्सव किया और पुनः 'आनन्द' नाम का अति भव्य नाटक किया - उसमें श्रीषेण राजा से लेकर शांतिनाथ तीर्थंकर तक के बारह भवों में भगवान ने जो मोक्षसाधना की उसे अद्भुत ढंग से प्रदर्शित किया। अहा, उस नाटक द्वारा प्रभु का जीवन देखकर अनेक जीव मुक्ति साधना हेतु प्रेरित हुए। नाटक द्वारा प्रभु के गुणों का स्मरण करते हुए इन्द्र कहते हैं कि—

हे नाथ ! आप 'कामदेव' होने पर भी काम को तो आपने नष्ट कर दिया

था इसलिये हे प्रभो ! आपको 'कामदेव' कहते हुए तो हमें शर्म आती है; वास्तव में आप कामदेव नहीं किन्तु काम के शत्रु ऐसे 'धर्मदेव' हैं ।

तथा हे देव ! आपको चक्रवर्ती महाराजा कहते हुए भी हमें संतोष नहीं होता, क्योंकि आपने तो उस छह खण्ड के साम्राज्य को तृणवत् त्यागकर केवलज्ञान द्वारा अखण्ड विश्व का साम्राज्य प्राप्त किया था । जिसका आपने त्याग कर दिया उसके द्वारा आपकी महिमा कैसे हो सकती है ?

तथा हे प्रभो ! तीन लोक के श्रेष्ठ आपका शरीर अत्यन्त सुन्दर था-यह सच है, परन्तु आपके चैतन्य की अतीन्द्रिय सुन्दरता के समक्ष उसका कोई मूल्य था ही नहीं ? क्योंकि जब आप सिद्धपुरी में पधारे तब उस चैतन्य की सुन्दरता को तो साथ ही ले गये थे, परन्तु शरीर की उस दिव्य सुन्दरता को आपने त्याग किया, इसलिये वह पुद्गल में विलीन हो गई । अहा, उस कार्य द्वारा तो आपने हमें जड़-चेतन का भेदज्ञान कराया । आज भी आपके स्वरूप का चिन्तन करने से जगत के जीवों को भेदज्ञान होता है और वे मोक्ष के पथपर चलते हैं । आपका शासन जयवन्त हो !

शांतिनाथ-तीर्थकर और चक्रायुध-गणधर यह दोनों जीव बारह भव तक साथ रहकर अन्त में मोक्ष को प्राप्त हुए ।

भगवान शांतिनाथ का जीवन वास्तव में अद्भुत है । संसार के साधारण जीवों की तो क्या बात करें, तीर्थकर या चक्रवर्ती आदि त्रेसठ शलाका-महापुरुषों में भी शांतिनाथ भगवान जैसी बारह भवों तक वृद्धिगत विभूति अन्य कौन प्राप्त कर सका है ? परन्तु वह समस्त बाह्यविभूति तो आत्मा से बाहर की है ! अंतर की चैतन्यविभूति में तो सर्व मोक्षगामी जीव एक समान हैं ! इसलिये—

हे भव्य जीवो ! तुम आत्मा का कल्याण चाहते हो तो, सम्पूर्ण चैतन्य वैभव सम्पन्न ऐसे आत्मा का चिंतवन करो; प्रभु समान ही अपने आत्मा का स्वरूप है उसका ध्यान करो; यही प्रभु शांतिनाथ की उपासना है और यही पूर्ण शांतिरूप मोक्ष का पंथ है । शांतिनाथ तीर्थकर देव द्वारा प्रकाशित यह मोक्षपंथ भरतक्षेत्रमें आज भी अविच्छिन्न रूप से चल रहा है । तुम हृदय में उन शांतिनाथ प्रभु का स्मरण करके आज ही मोक्षमार्ग का अनुसरण करो !